प्रकाशक : यूनाइटेड स्टेट्स इन्फ़र्मेशन सर्विस, नई दिल्ली-१
© सर्वाधिकार लेखक द्वारा सुरक्षित

मुद्रक : एलबियन प्रेस, दिल्ली-६

आवरण पृष्ठ का चित्र : श्री एफ़. सी. पसरीचा के सौजन्य से

न्याय्य समाज
के
मूलाधार

युद्धोत्तर काल के वर्षों में
हमने राष्ट्रीय विकास के
विषय में क्या कुछ सीखा है।

चेस्टर बौल्स

यूनाइटेड स्टेट्स इन्फ़र्मेशन सर्विस
नई दिल्ली—१

लेखक की अन्य कृतियां

टुमारो विदाउट फ़ियर
एम्बासेडर्स रिपार्ट
द न्यू डाइमेन्शन्स ऑव पीस
अफ्रीकाज चैलेन्ज टु अमेरिका
अमेरिकन पॉलिटिक्स इन अ रिवोल्यूशनरी वर्ल्ड
आइडियाज, पीपुल ऐन्ड पीस
द कमिंग पोलिटिकल ब्रेकथ्रू
द कॉन्शियेन्स ऑव अ लिबरल

प्राक्कथन

यह बात, कि *सैपियन्स मानुष*, जिसे एक पृथक् स्पीशीज के रूप मे विकसित हुए १० लाख से भी अधिक वर्ष हो गये हैं, ज्ञान के अरुणोदय को अब से केवल अठारह वर्ष पूर्व देख पाया, इतिहास का एक आश्चर्यजनक किन्तु सच्चा तथ्य है। यों तो पिछली कुछ शताब्दियां ज्ञानोद्दीप्त रही हैं, किन्तु संसार के अधिकांश देशों के नेताओं के यह मानने से पूर्व कि सभ्यता के फलों को समस्त मानव जाति के लिए उपलब्ध कर पाना व्यावहारिक है, हमें वैज्ञानिक तथा औद्योगिक क्रान्ति के ३०० वर्षों और दो सर्वनाशकारी विश्व-युद्धों में से गुजरना पड़ा।

लगभग ८० करोड़ लोगों की पराधीनता से मुक्ति के बाद और ७० करोड़ अन्य लोगों के नेताओं द्वारा पुरातन को नष्ट करने तथा नूतन का सृजन करने के लिए झपट ली गई प्रचंड स्वतन्त्रता के पश्चात् यह विश्वास राष्ट्रीयता के निर्माण और आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के विषय में हमारे काल के महान भूमंडलव्यापी कार्यकलाप का एक प्रधान प्रेरक बन गया है।

'न्याय्य समाज के मूलाधार' के लेखक ने इस विशाल पृष्ठभूमि में राष्ट्र निर्माण के सिद्धान्तों का, ग्राम विकास की प्रक्रिया का, औद्योगिक

उन्नति तथा सामाजिक न्याय एक साथ प्राप्त करने के लक्ष्यों का, और चीन तथा भारत की समस्याओं और सम्भावनाओं का अपना कुशाग्र-बुद्धिपूर्ण प्रतिपादन प्रस्तुत किया है।

राजदूत चैस्टर बौल्स ने जिन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं के विषय में इस पुस्तक में लिखा है, उन्हें न केवल उनके पर्यवेक्षण का, अपितु उनको हल करने में उत्तरदायित्वपूर्ण भाग लेने का भी अपूर्व अवसर मिला है।

एक सफल व्यवसायी के रूप में अपने आरम्भिक वर्षों के कार्यकाल में उन्होंने यह दिखा दिया कि गैर-सरकारी उद्यम से सार्वजनिक हित को भी लाभ पहुंच सकता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के दिनों में राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट के अधीन 'कीमत, किराया तथा राशन नियन्त्रणों के प्रशासक' के रूप में कार्य करते हुए उन्होंने किसी भी प्रजातन्त्रीय देश द्वारा सर्वांगीण युद्ध के अत्यधिक दबाव में अपनी अर्थव्यवस्था को स्थिर रखने के लिए किये गये एक सबसे बड़े एकाकी प्रयत्न का संचालन किया। राष्ट्रपति ट्रूमैन के अधीन 'आर्थिक स्थिरीकरण के निदेशक' के रूप में उन्होंने युद्ध से शान्ति की ओर सुव्यवस्थित आर्थिक रूपान्तरण करने में सहायता दी। यूनेस्को (संयुक्त राष्ट्रीय शैक्षणिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संगठन) बाल निधि का संचालन करते समय उन्होंने संसार के कम भाग्यशाली लोगों की गरीबी, भूख और बीमारी की समस्याओं को प्रत्यक्षतः देखा है।

कनैक्टिकट राज्य के राज्यपाल के रूप में उन्होंने प्रगति के पेचीदा तन्त्र को संभालने की प्रशासनिक और राजनीतिक कठिनाइयों का अनुभव प्राप्त किया। उप-विदेश मंत्री के पद पर काम करते हुए अपनी अविराम विश्व भर की यात्राओं से उन्हें न केवल लोगों का ज्ञान प्राप्त हुआ, अपितु राजनय के तौर-तरीकों से भी उनका घनिष्ठ परिचय हो गया।

एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के लिए राष्ट्रपति केनेडी के विशेष प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हुए श्री बौल्स ने सारे संसार के

विकासोन्मुख राष्ट्रों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क में रह कर कार्य किया।

अन्त में आर्थिक उन्नति की एक नाजुक दशाब्दी के आरम्भ और अन्त, दोनों में भारत में संयुक्त राज्य अमरीका के राजदूत के रूप में उन्होंने न केवल अपने देश की, अपितु एक मित्र और सलाहकार के रूप में भारत की भी सेवा की है।

१०-१३ दिसम्बर, १९६३, को दिल्ली विश्वविद्यालय में दी गई उस भाषणमाला में, जिस पर कि यह पुस्तक आधारित है, श्री बौल्स ने स्थायी महत्व के प्रश्नों के साथ-साथ तात्कालिक महत्व के प्रश्नों को भी उठाया था। आशा है कि इस पुस्तक में उठाये गये मामले इसके पाठकों में भी उतने ही विचार-विमर्श को वैसे ही प्रोत्साहित करेंगे, जैसे कि इन्होंने उन लोगों में किया था, जिन्हें इन भाषणों को सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ था।

दिल्ली विश्वविद्यालय
१४ दिसम्बर, १९६३

चि० द्वा० देशमुख
उपकुलपति

विषय सूची

१. राष्ट्र निर्माण के पाँच आवश्यक तत्व ११

२. ग्राम विकास की प्रक्रिया ३१

३. सामाजिक न्याय के साथ औद्योगिक विकास ५९

४. चीन और भारत : समस्याएं और सम्भावनाएं ८२

१

राष्ट्र निर्माण के पांच आवश्यक तत्व

द्वितीय विश्व युद्ध के वाद पिछले अठारह वर्षों में एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के डेढ़ अरव से भी अधिक लोग राष्ट्र निर्माण के अभूतपूर्व अभियान में जुट गये हैं ।

इस प्रयास के लक्ष्य सड़कों के निर्माण, उद्योगों के विकास तथा और अधिक खाद्य सामग्री उत्पन्न करने की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत हैं। पूरी तरह देखा जाये तो उनकी विशेषता एक सामाजिक उद्देश्य की भावना रही है, जो अपने आप में विचार योग्य है ।

कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़ कर सभी नये उठते हुए राष्ट्रों ने अपनी स्वाधीनता की लड़ाई जीती है या अपने देशों में क्रान्तियां की हैं, वे वैयक्तिक स्वतन्त्रता, जातीय समानता और विकास के लाभों में विस्तृत भागीदारी के सार्वभौम मूल्यों के नाम पर की हैं ।

यद्यपि व्यवहार में इन मूल्यों की प्रायः उपेक्षा कर दी जाती है, फिर भी वे एक ऐसी आधारभूत वचनवद्धता वन गये हैं, जो मेरे विचार से मानव जाति के एक विशाल वहुमत की गंभीरतम महत्वाकांक्षाओं को प्रतिविम्वित करती है ।

यह वचनवद्धता इतनी वास्तविक है कि व्यक्ति के अधिकारों का

तनिक भी ध्यान न रखने वाली तानाशाही सरकारें भी राजनीतिक आवश्यकता के तौर पर इसके प्रति श्रद्धा प्रकट करने को विवश सी हो जाती हैं। इसका एक उदाहरण है माओ-त्से-तुंग द्वारा सन् १९५४ में भारत-चीन सम्बन्धों के भावी आधार के रूप में उदासीनतापूर्वक पंचशील का स्वीकार कर लिया जाना; एक अन्य उदाहरण है, चाउ एन-लाई द्वारा १९५५ में बांडुंग के स्वातंत्र्यवादी सिद्धान्तों का समर्थन।

इन नये स्वाधीन हुए राष्ट्रों की भविष्य की कल्पना तो एक है ही, उनकी वहुत सी समस्याएं भी एक सी हैं। उदाहरण के लिए, वे लगभग सबके सब गरीव हैं। वैज्ञानिक तकनीकों से प्राप्त होने वाले लाभों तक उनकी पहुंच या तो रही ही नहीं है और यदि रही है तो वहुत कम। लगभग ये सभी अल्पपोषण के शिकार हैं। अनेक रोगग्रस्त हैं। इनमें से वहुत थोड़े ऐसे हैं, जो अपने वच्चों को यथोचित रीति से शिक्षा दे पाने में समर्थ हैं।

फिर भी अपनी दशा को सुधारने का उनका प्रचंड संकल्प इन सव विकट कठिनाइयों को भी अभिभूत कर देने वाला है। इतिहासकार आर्नल्ड टौयनवी ने अपने एक हाल के लेख में इस वात को विशेष जोर देकर कहा है। उसने लिखा है कि "हमारे इस युग को इसके भीषण अपराधों के लिए या इसके आश्चर्यजनक आविष्कारों के लिए स्मरण नहीं किया जायेगा, अपितु इसलिए स्मरण किया जायेगा कि इतिहास का आरम्भ होने के वाद यह पहला युग है, जिसमें मनुष्य जाति ने यह विश्वास करने का साहस किया है कि सभ्यता के लाभों को समूची मानव जाति के लिए उपलब्ध कर पाना व्यावहारिक दृष्टि से संभव है।"

इसके फलस्वरूप विकास का अर्थशास्त्र और राजनीति, जो किसी समय केवल विद्वानों की रुचि के विषय थे, अव उठ कर विश्व की कार्य सूची में सवसे ऊपर आ गये हैं। संयुक्त राज्य अमरीका और यूरोप का उन्नीसवीं शताब्दी में जिस मन्द गति से विकास हुआ था, वह सारे संसार की अपेक्षाकृत अच्छे रहन-सहन की वढ़ती हुई मांगों को पूरा करने

के लिए काफी नहीं है। इसका अर्थ यह है कि सरकारों को विवश होकर अपनी हर मांस-पेशी पर दबाव डालना होगा और हर साधन का उपयोग करना होगा, जिससे उस आर्थिक उन्नति और सामाजिक न्याय को सुनिश्चित किया जा सके, जिसकी लोग आशा और मांग करते हैं।

विकास की यह आधुनिक चुनौती एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के तथाकथित 'पिछड़े हुए' महाद्वीपों तक ही सीमित नहीं है। यूरोप और अमरीका के सबसे अधिक उत्पादनशील राष्ट्रों में से अनेक के अन्दर अब भी सम्पत्ति और दरिद्रता की दारुण विषमताएं विद्यमान है, जो मानों चिल्ला-चिल्ला कर हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर रही हैं। यह बात यूनान के ग्रामों, दक्षिणी इटली, दक्षिणी फ्रांस के कुछ भागों, संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ हिस्सों और रूस के अधिकांश भागों के विषय में सत्य है। सच तो यह है कि कोई भी बड़ा राष्ट्र यह दावा नहीं कर सकता कि उसने अपने यहां दरिद्रता को पूरी तरह समाप्त कर दिया है, या यह कि उसने अपने प्रत्येक नागरिक के लिए हर स्वतन्त्र समाज के सारभूत तत्व—जाति या धर्म का भेदभाव किये बिना उन्नति के अवसर की समानता—की व्यवस्था कर दी है।

कम विकसित राष्ट्रों में हमें बहुत ही अलग-अलग प्रकार की समस्याएं और अवसर दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए, लैटिन अमरीका के अधिकांश भाग में राजनीतिक और आर्थिक विकास में एक बड़ी बाधा, जो सब स्वतन्त्र समाजों में आधारभूत है, यह है कि वहां के अपेक्षाकृत विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग समय की गति के साथ-साथ आगे बढ़ने को बिल्कुल तैयार नहीं है। लैटिन अमरीका की सारी भूमि का आधे से भी अधिक भाग वहां के डेढ़ प्रतिशत से भी कम लोगों के हाथों में है। अनेक लोग ऐसे हैं, जिनके पास पन्द्रह हजार एकड़ से भी अधिक भूमि है।

लैटिन अमीरका के देशों में से गिनती के कुछ ही ऐसे देश हैं,

जहां प्रभावी आय-कर विद्यमान है; ऐसे देश और भी थोड़े हैं, जहां पहले से ही स्वल्प विदेशी मुद्रा का अनावश्यक विलास-सामग्रियां मंगाने में उपयोग करने पर, या यहां तक कि स्वेदशी पूंजी को विदेशों में 'सुरक्षित रखने के लिए' भेज देने पर भी कोई रोक है। इसका परिणाम यह है कि राष्ट्रीय प्रति व्यक्ति आय देखने में चाहे कितनी ही सन्तोषजनक जान पड़े, किन्तु उससे बहुधा आय के वे अत्यधिक अन्तर छिप जाते हैं, जिनके कारण विशेषाधिकार-शून्य बहुसंख्यक लोगों में कटुता और निराशा उत्पन्न होती है।

अफ्रीका में द्रुत राष्ट्रीय विकास के मार्ग की बड़ी-बड़ी बाधाएं इनसे भिन्न हैं। उदाहरण के लिए, वहां ग्रामीण भूमि का अधिकांश भाग कबीलों के स्वामित्व में है और वह भूमि अलग-अलग परिवारों को उनकी आवश्यकता और उनकी कार्यक्षमता के आधार पर बांट दी जाती है—यह एक ऐसी प्रणाली है, जिसका अनेक इलाकों में अब स्वभावतः आधुनिक प्रजातन्त्रीय सहकारी समितियों के रूप में विकास हो रहा है। क्योंकि वहां शक्तिसंपन्न धनी लोग बहुत कम हैं इसलिए कर दे सकने की योग्यता के आधार पर लगाये गये करों का विरोध वहां कोई गम्भीर समस्या नहीं है। आगामी वर्षों में अफ्रीका की तीव्र गति से उन्नति में शिक्षा का, मूलभूत निपुणताओं का, प्रशासनिक और प्रबन्ध-सम्बन्धी अनुभव का, और वैयक्तिक प्रोत्साहनों का अभाव एक बड़ी रुकावट बनेगा।

एशिया में हमें कुछ अलग ही कठिनाइयां दिखाई पड़ती हैं, जो अलग-अलग राष्ट्रों में एक दूसरे से काफी भिन्न हैं। इन कठिनाइयों में से कुछ ये हैं : कुछ देशों में जनसंख्या साधनों की तुलना में बहुत तेजी से बढ़ रही है; देहातों में अकर्मण्यता है, जिसका मूल वहां कई पीढ़ियों से चले आ रहे शोषण या उपेक्षा में है, और वहां का व्यावसायिक वर्ग सृजनात्मक उपक्रम पर ध्यान न दे कर व्यापार और सट्टे पर अधिक ध्यान देता है।

इस संक्षिप्त सी समीक्षा से यह प्रतीत होता है कि प्रत्येक राष्ट्र की, चाहे वह धनी हो या गरीव, अधूरे पड़े हुए काम की अपनी ही एक विशेष सूची है, जिसकी ओर उस देश की सरकार को संतुलित चित्त से ध्यान देना होगा। परन्तु हमारा वर्तमान काम यह है कि हम उन विशेष कारणों को अलग करके देखें, जिनका कम विकसित महाद्वीपों में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

हाल के वर्षों के अनुभव ने यह दिखा दिया है कि किसी भी विकसित होते हुए देश में द्रुत और सन्तुलित प्रगति के लिए पांच बातें आवश्यक हैं। इनमें से पहली है सामग्री, और चार अन्य का सम्वन्ध जनता के रुख और मानवीय क्षमताओं से है। ये पांच आवश्यक तत्व ये हैं :

१. स्वदेशी और विदेशी, दोनों स्रोतों से पर्याप्त पूंजी की प्राप्ति।

२. विकास के लिए आवश्यक वैयक्तिक प्रयत्न करने के वास्ते लोगों को तैयार करने के लिए पर्याप्त वस्तुएं और सेवाएं।

३. प्रवन्ध, प्रशासन, उत्पादन और नागरिकता की यथेष्ट निपुणताएं

४. भारत और पाकिस्तान जैसे अत्यधिक घनी संख्या वाले देशों में लोगों की जनसंख्या की तेजी से होती हुई वृद्धि को रोकने की इच्छा और क्षमता।

५. राष्ट्रीय प्रयोजन की एकता उत्पन्न करने वाली भावना और जनता तथा उसके नेताओं के मध्य प्रभावी सम्पर्क।

ये ही वे पांच तत्व थे, जिनके कारण यूरोप और जापान द्वितीय विश्व युद्ध से उत्पन्न विध्वंस और निराशा में से फिर आश्चर्यजक शीघ्रता से उठ खड़े हुए। एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के विकासोन्मुख राष्ट्रों में भी इन तत्वों को उत्पन्न करना ही उन लोगों का सवसे पहला काम होना चाहिए, जो एक सुव्यवस्थित राजनीतिक ढांचे में रह कर अपना रहन-सहन का स्तर उन्नत करना चाहते हैं।

१

अब विकास के लिए पूंजी के विनियोग के प्रश्न से शुरू करके इन पांचों आवश्यक तत्वों पर इसी क्रम से विचार कर लेना उचित होगा।

अनिवार्यतः, किसी भी राष्ट्र की पूंजी की अधिकांश आवश्यकताओं को, निजी बचतों को बढ़ा कर, या विभिन्न प्रकार के करों द्वारा और खर्च की अन्य सरकारी रोकथामों द्वारा स्वदेशी स्रोतों से ही पूरा किया जाना चाहिए।

अधिकांश विकसित होते हुए राष्ट्रों में गैर-सरकारी बचत अन्ततोगत्वा पूंजी का एक बड़ा स्रोत तो अवश्य बनेगी, किन्तु इसके लिए बहुधा समाज की बद्धमूल मनोवृत्तियों में परिवर्तन करना आवश्यक होता है। उसके बाद ही इस स्रोत का प्रभावी रूप से दोहन किया जा सकता है। लोगों को अपने स्वर्णाभूषणों को या फालतू भूमि को या आर्थिक निश्चिन्तता के अन्य परम्परागत रूपों को त्यागने के लिए केवल एक ऐसे सामाजिक और आर्थिक परिवेश में ही तैयार किया जा सकता है, जिसमें काफी कुछ निश्चिन्तता हो।

इसलिए अधिकांश कम विकसित राष्ट्रों में उन्नति की प्रक्रिया की आरम्भिक अवस्थाओं में पूंजी की जरूरतों को सरकार को बहुत कुछ अलग-अलग प्रकार के अनेक कर लगाकर ही पूरा करना होगा। उदाहरण के लिए, भूमि-कर बड़ी-बड़ी जोतों पर क्रमशः वर्धमान रीति से बढ़ाये जा सकते हैं। इससे न केवल राजस्व में वृद्धि होती है, अपितु साथ ही अपेक्षाकृत अधिक कार्यक्षम 'एक परिवार के योग्य आकार' के खेतों के विकास को भी प्रोत्साहन मिलता है। बिक्री कर और उत्पादन करों से अतिरिक्त राजस्व प्राप्त हो सकता है और ये विनियोग को कुछ चुनी हुई बड़ी-बड़ी परियोजनाओं की ओर मोड़ने के साधन भी बनते हैं।

आय पर भी क्रमशः वर्धमान आधार पर कर लगाया जा सकता

है। यह तर्क, कि उचित रूप से क्रमशः वर्धमान आय कर निजी विनियोग के लिए प्रोत्साहन को कम कर देता है, व्यवहार में खरा नहीं उतरता। अब से लगभग आधी शताब्दी पहले जब संयुक्त राज्य अमरीका में इस प्रकार का कर पहले-पहल लगाया गया था, तब लोगों ने बहुत अधिक चीख-पुकार की थी। परन्तु इस बात का कोई परिणाम नहीं है कि आय-कर ने संयुक्त राज्य अमरीका की उत्पादन की क्षमता को हानि पहुंचाई हो। इसके बजाय इस कर ने आयों का एक प्रजातन्त्रीय पुनः वितरण कर दिया है, जिसके फलस्वरूप बहुत बड़े पैमाने पर क्रय शक्ति उत्पन्न हो गई है, जिसने हमारी अर्थ व्यवस्था को उत्पादन के और भी ऊंचे स्तरों की ओर बढ़ाया है।

परन्तु करों द्वारा और उपभोग में कमी द्वारा जितनी स्वदेशी पूंजी संचित की जा सकती है, उसकी भी स्पष्ट सीमाएं है। जिन करों को उगाहना आसान होता है, जैसे उत्पादन कर और बिक्री कर, उनका भार सबसे अधिक उन लोगों पर पड़ता है, जो उन्हें चुका पाने में सबसे कम समर्थ होते है और इसलिए वे लोगों की उस क्रय शक्ति को कम कर देते हैं, जो रहन-सहन के न्यूनतम स्तरों को बनाये रखने के लिए आवश्यक है। जिन करों से अर्थ व्यवस्था को सबसे अधिक लाभ पहुँच सकता है, जैसे कि आय कर, वे इस बात के लिए बदनाम हैं कि उनको उगाह पाना कठिन है। इसके अलावा क्योंकि विकसित होते हुए राष्ट्रों में बहुत थोड़े लोग ऐसे होते हैं, जिनकी आय बहुत अधिक होती है, इसलिए कर का यह स्रोत बहुत सीमित होता है।

यद्यपि कच्चे माल का निर्यात भी पूंजी के संचय का एक बड़ा साधन बन सकता है, परन्तु इस प्रकार के निर्यातों से स्वतः इस बात का भरोसा नहीं हो जाता कि वैसा विस्तृत आधार वाला आर्थिक विकास हो ही जायेगा जिसके लिए हम प्रयत्नशील हैं। उदाहरण के लिए, कॉफी, रांगा, तेल और अन्य आधारभूत सामग्रियों के निर्यातों से लैटिन अमरीका के अनेक उत्पादकों को बहुत आय हुई है। परन्तु क्योंकि इन

आयातों से होने वाली कुल आय का एक क्षुद्र सा अंश ही उन लोगों तक पहुँच पाया है, जो खेतों और खानों में काम करते हैं, इसलिए धनियों और निर्धनों के बीच की खाई निरन्तर बढ़ती ही गई है। पश्चिमी एशिया में विशाल तेल सम्पत्ति के होते हुए भी वहां के लोगों का अधिकांश भाग घोर दरिद्रता में ही जीवन विताता है।

इन मर्यादाओं को देखते हुए यह बात आश्चर्यजनक नहीं है कि जो भी राष्ट्र अपनी अर्थ-व्यवस्था को आधुनिक रूप देने में सफल हुए हैं, उनमें से लगभग प्रत्येक को अपेक्षाकृत उन्नत देशों से ऋणों और अनुदानों की सुविधा मिली है। उदाहरण के लिए, उन्नीसवीं शताब्दी में संयुक्त राज्य अमरीका के विकास की गति यूरोप से प्राप्त हुई गैर सरकारी पूंजी की विशाल राशियों के कारण तीव्र हो गई थी। १९१२ तक विदेशी विनियोग कुल मिलाकर छै: खरब डालर से भी अधिक था, जो उन दिनों बहुत बड़ी राशि थी।

संभवतः, एक जापान के अपवाद को छोड़कर केवल एक राष्ट्र ही ऐसा है, जिसने अपनी अर्थ-व्यवस्था को लगभग विदेशी पूंजी की सहायता के बिना ही आधुनिक रूप दिया है और वह है सोवियत रूस। इस मामले में एक तो रूसी जनता को निर्ममतापूर्वक निचोड़ा गया और दूसरे वहाँ प्राकृतिक साधनों की अतुल मात्रा उपलब्ध थी, इसलिए विनियोग के लिए आवश्यक धनराशि प्राप्त हो गई। फिर भी, इस विशेष मामले में सफलता में और असफलता की संभावना में अन्तर बहुत थोड़ा था। सन् १९३० और ४० के बीच के वर्षों में रूस की सब प्राकृतिक सुविधाओं के होते हुए भी सोवियत अर्थ-व्यवस्था वलात् किये जा रहे विकास के दवाव से लगभग टूट सी ही गई थी।

जैसाकि हम आगे एक अध्याय में देखेंगे, चीन, जिसके पास उन साधनों का अभाव है, जो रूस में प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हैं, सम्भाव्यत: विशाल पैमाने पर विदेशी सहायता के बिना एक विकासक्षम अर्थ-व्यवस्था तैयार करने में सफल नहीं हो सकता; और यह विदेशी सहायता वर्तमान

परिस्थितियों में उसे मिलती दिखाई नहीं पड़ती।

परन्तु हमें विदेशी पूंजी की सहायता के इस विषय को इसकी स्पष्ट पृष्ठभूमि में देखना चाहिए। जहां प्रजातन्त्रात्मक परिवेश में आर्थिक प्रगति को यथेष्ट चाल से विकसित करने के लिए यह बहुत ही आवश्यक तत्व है, वहां अन्तिम सफलता, सहायता प्राप्त करने वाले देश की सरकार और लोगों की शक्ति और कार्यक्षमता पर निर्भर है।

उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमरीका ने जिन अनेक देशों को ऋण और सहायता दी थी, उनमें से जो देश अपने हिस्से का बोझ उठा पाने में सफल नहीं हुए, वे आर्थिक दुर्दशा में फंसे रह गये हैं। एक से अधिक मामलों में हमने यह देखा है कि हमारी सहायता का उपयोग प्रतिक्रियावादी सरकारों ने आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन की उन्हीं शक्तियों के विरुद्ध, जिन्हें कि हम वढ़ावा देने चले थे, यथापूर्व स्थिति को वनाये रखने के लिए किया है।

जिन राष्ट्रों में संयुक्त राज्य अमरीका की सहायता सवसे कम प्रभावी रही है, उनमें कई एक सी विशेषताएं हैं। अधिकांश मामलों में स्थानीय करों का ढांचा अकार्यक्षम और अन्यायोचित रहा है। जिन पूंजी-निधियों की स्वदेश में अत्यधिक आवश्यकता थी, उन्हें विदेश जाने दिया गया। विलास सामग्रियों के आयात पर विदेशी मुद्रा खर्च कर दी गई।

वहुधा इन देशों की सरकारों में भ्रष्टाचार रहा है और उस प्रकार के विकास कार्य में सरकार की दिलचस्पी नहीं रही, जिससे लोगों के वड़े भाग को लाभ भी पहुँचता है। भूमि के पट्टे की अर्धसामन्तीय प्रणालियों के कारण किसानों की पहल शक्ति वहुधा दवी रही है। उसके कारण खेती के उत्पादन में वाधा पड़ी है और साथ ही सारे देहाती क्षेत्र में अन्याय की एक कटु भावना उत्पन्न हो गई है।

इस महत्वपूर्ण विषय में हमारा अनुभव स्पष्ट है : विदेशी पूंजी राष्ट्रीय विकास में केवल उन्हीं देशों में कोई सार्थक योग दे सकती है, जो स्वयं भी अपने साधनों को जुटाने के इच्छुक और जुटाने में समर्थ

हैं। इस प्रकार के मामलों में विदेशी सहायता सफलता के लिए निर्णायक गुंजाइश बना सकती है। जहाँ इस आवश्यक प्रयत्न का अभाव हो, वहाँ हो सकता है कि विदेशी सहायता का प्रभाव लगभग शून्य ही रहे।

संयुक्त राज्य अमरीका में हाल ही में विदेशों को आर्थिक सहायता देने का जो विरोध हो रहा है, वह बहुत कुछ गलत जानकारी पर आधारित और गलत रास्ते पर है। परन्तु इसका मूल इस सही विश्वास में है कि मेरे देश पर उन सरकारों को धन राशि देने की कोई जिम्मेदारी नहीं है, जो अपने आर्थिक और सामाजिक घरों को व्यवस्थित रूप में रखने में असमर्थ हैं।

इस दृष्टिकोण के साथ मेरी गहरी सहानुभूति है। सच तो यह है कि संयुक्त राज्य अमरीका की काँग्रेस के एक सदस्य के नाते मैंने इस प्रकार के मानक चालू करने की स्थापना का प्रस्ताव रखा था कि हमारी आर्थिक सहायता उसे पाने वाले देशों की इस क्षमता और इच्छा पर निर्भर रहे कि वे उस सहायता का और अपने देश के साधनों का किस सीमा तक ठीक-ठीक उपयोग कर सकते हैं।

मुझे यह विश्वास हो गया है कि कुछ बिल्कुल असाधारण राजनीतिक परिस्थितियों को छोड़ कर, ऊपर बताये गये आधार के अलावा अन्य किसी भी आधार पर दी गई आर्थिक सहायता सम्भवतः अपने एक मात्र वैध उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकती; वह वैध उद्देश्य, मैं फिर दुहरा दूं, ऐसे गतिमान स्वतन्त्र राष्ट्रों का सृजन है, जो अपने लोगों को अपनी परम्पराओं और संस्कृति के ढांचे के अन्दर रहते हुए समृद्धि और उन्नति का अवसर प्रदान करते हैं।

अपेक्षाकृत अच्छी योजनाओं और तकनीकों का विकास करने की चुनौती एक बड़ी चुनौती है। इस समय विकसित राष्ट्रों की सम्मिलित राष्ट्रीय आय कुल मिला कर ९०० खरब डालर प्रति वर्ष है। यदि इस राशि का एक प्रतिशत भाग भी प्रतिवर्ष कम विकसित देशों को उधार दे दिया जाये या बिल्कुल दे ही दिया जाये, तो धनी और निर्धन राष्ट्रों

के बीच का व्यवधान एक ऐसे ढंग से कम हो जायेगा, जिससे देने वाले और पाने वाले, दोनों को ही लाभ होगा; जिससे उनमें से प्रत्येक के गौरव में वृद्धि होगी और हमारा यह संसार हम सभी के लिए अब की अपेक्षा एक बहुत ही सुरक्षित और अच्छा स्थान बन जायेगा।

२

अब में राष्ट्रीय विकास के अपने पाँच आवश्यक तत्वों में से दूसरे पर आता हूँ; वह है—कठोर परिश्रम और पहल शक्ति के लिए यथेष्ट और न्याय्य रीति से वितरित किये गये प्रतिफल की आवश्यकता।

जैसा कि हम देख चुके हैं, कर लगाने, कमखर्ची या सम्पत्ति के दूषित वितरण की उस मात्रा की भी एक राजनीतिक सीमा है, जिसे लोग ऐसे कपटपूर्ण उपाय अपनाये बिना, जिनके कारण व्यवस्था में भ्रष्टाचार फैलता है और सरकार की ईमानदारी में विश्वास कम हो जाता है, या सरकार को बदले बिना, सहन करने को तैयार हो सकते हैं।

यह पक्की बात है कि अधिनायकवादी व्यवस्थाएँ उत्पादकों को निष्ठुरतापूर्वक निचोड़ कर जबरदस्ती से अधिक मात्रा में पूंजी संचित कर सकती हैं; इन उत्पादकों को उपभोग्य वस्तुओं से वंचित रखा जाता है और साथ ही लाउड स्पीकरों पर प्रचार करके उनसे कहा जाता है कि वे राज्य के हित के लिए अधिकाधिक परिश्रम करें।

परन्तु, जैसा कि सोवियत यूनियन अपने कठोर अनुभव से सीख रहा है, कठोर से कठोर पुलिस राज्य में भी नारों और लाउड स्पीकरों की भी अपनी एक सीमा है। चालीस वर्ष तक राष्ट्रीय कृषि को सामूहिक आधार पर संगठित करने के प्रयत्न के बाद भी वहां उन छोटे-छोटे घरेलू बागीचों में, जिन्हें सोवियत किसान सचमुच अपना कह सकता है, अब भी उपज उन कठोरतापूर्वक संगठित किये गये राजकीय फार्मों की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी होती है, जहाँ यथेष्ठ व्यक्ति-

गत प्रोत्साहनों का अभाव है। समतावादी माने जाने वाले सोवियत संघ में अब औद्योगिक मजदूरों को वेतन और बोनस दिये जाते हैं; अलग-अलग मजदूरों के इन वेतनों और बोनसों का पारस्परिक अन्तर अमरीका के वेतन मानों के पारस्परिक अन्तर से कहीं अधिक है। इन प्रोत्साहनों का सोवियत रूस के कारखानों के उत्पादन पर अनुकूल प्रभाव पड़ा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीतिक विचार धारा चाहे कुछ भी क्यों न हो विकास के लिए पूंजी अन्ततोगत्वा प्रभावी रूप से केवल तभी संचित की जा सकती है, जब कि उससे सभी लोगों को कोई तात्कालिक और स्पष्ट दिखाई पड़नेवाला लाभ होने वाला हो। कोई भी विकासोन्मुख देश इन बातों को अपने सामने रखते हुए उपभोग्य वस्तुओं और सामाजिक सेवाओं की यह कह कर उपेक्षा नहीं कर सकता कि वे ऐसी क्षुद्र शृंगार की वस्तुएं हैं, जिनके निर्माण को पूंजी का संचय करने के लिए रोका जा सकता है; इसके विपरीत इस प्रकार के प्रोत्साहन, चाहे वे मात्रा में कितने ही अल्प क्यों न हों, राष्ट्रीय सम्पत्ति को बढ़ाने में एक सारभूत उत्पादक यन्त्र के रूप में काम करते हैं।

इसके अतिरिक्त साइकिल, जूते, कपड़े, बर्तन, भांडे, मामूली घरेलू सामान, कौंध-बत्तियों (टार्च) जैसी उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन और अपनी मेहनत से अपने लिए मकान बनाने की योजनाएं ऐसी नौकरियों का एक महत्वपूर्ण स्रोत बन जाती हैं, जो अधिकांश विकसित होते हुए देशों में भारी उद्योगों में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं हो सकतीं।

यदि राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया की सफलता अभीष्ट हो, तो व्यक्ति को अपने रहन-सहन के स्तर को सुधारने का एक अवसर दिया जाना चाहिए और साथ ही उसमें एक आत्मीयता की, वैयक्तिक गौरव की, और अपनी सरकार की ईमानदारी तथा योग्यता में आस्था की भावना जगाई जानी चाहिए।

३

अब हम राष्ट्रीय विकास के तीसरे आवश्यक तत्व, प्रबन्ध की, उत्पादन की और नागरिकता की निपुणताओं पर आते हैं।

प्रशासनिक निपुणताएं अवश्य ही सब विकसित होते हुए देशों में, विशेष रूप से उन देशों में जो अभी नये-नये स्वाधीन हुए हैं, अल्प मात्रा में उपलब्ध हैं। यहां तक कि जिन देशों में सक्षम प्रशासन सेवा विद्यमान है भी, जैसे कि भारत में, वहां भी ऐसे लोग वहुत ही थोड़े हैं, जिन्हें दवंग और सृजनात्मक नीति के निर्माण का अनुभव हो।

अधिकांश विकसित होते हुए राष्ट्रों में, विशेष रूप से अफ्रीका में, तकनीकी निपुणताओं का अभाव भी इतना ही चिन्ताजनक है। आगामी अनेक वर्षों तक इन राष्ट्रों में वढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त संख्या में सक्षम चिकित्सक, अध्यापक, इंजीनियर, वास्तुविद्, मजदूरों के नेता और अन्य विशेषज्ञ लोग उपलब्ध नहीं हो सकेंगे।

पूंजी की भाँति इन प्रशासनिक और तकनीकी निपुणताओं का विकास भी बड़ी सीमा तक उस देश को अपने अधिक उन्नत मित्र देशों से कुछ सहायता लेकर स्वयं ही करना होगा। सार्वजनिक प्रशासन में विदेशी लोगों का उपयोग, राजनीतिक कारणों से, सोचने की ही चीज़ नहीं है, और विदेशों में सेवा करने के लिए पर्याप्त संख्या में सक्षम तकनीकी लोग कहीं उपलब्ध है ही नहीं। इसलिए विदेशी विशेषज्ञों का उपयोग एक स्वल्प साधन के रूप में, और वह भी मूख्यतया स्थानीय विशेषज्ञों को प्रशिक्षण देने के काम के लिए, किया जाना चाहिए।

सौभाग्य से विदेशी तकनीकी सहायता की थोड़ी-सी भी मात्रा का, विदेशी पूंजी की सीमित मात्रा की भांति, विकास की प्रक्रिया पर वहुत वड़ा असर हो सकता है। परन्तु, यह वात उसी दशा में सत्य है, जव कि

सहायता पाने वाला देश प्रशिक्षण के लिए सक्षम व्यक्तियों का प्रबन्ध करने के लिए अपनी ओर से सच्चा प्रयत्न करे और जिन लोगों को इस प्रकार प्रशिक्षण मिला हो, उनको ऐसे उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया जाये, जहाँ उनकी निपुणताओं का अर्थ-व्यवस्था पर अविरत प्रभाव पड़ता रहे।

यदि नये प्रशिक्षित तकनीकी लोगों को ऐसे दिनचर्यात्मक काम सौंप दिये जायें, जिनमें उनकी पहल शक्ति कुचली जाये, और यदि उनको अपने अधीनस्थ लोगों को प्रशिक्षण देने के लिए प्रोत्साहित न किया जाये तो कितनी ही मात्रा में विदेशी तकनीकी सहायता प्राप्त होने पर भी उसका कोई विशेष प्रभाव न होगा।

उन प्रजातन्त्रात्मक देशों में, जिनकी सरकारें शासित लोगों की सहमति पर टिकी होती है, विकास के साथ-साथ होने वाले सामाजिक परिवर्तन के लिए समूचे नागरिक वर्ग में नई राजनीतिक और सामाजिक निपुणताओं के सृजन की भी आवश्यकता होती है। नागरिकता की निपुणता मतदान-पत्र पर निशान लगा सकने मात्र की योग्यता से कुछ अधिक वस्तु है। यह क्रान्ति किये विना अपना मतभेद रख सकने की, जहां आवश्यकता हो वहां ऐकमत्य स्थापित करने के लिए व्यक्तिगत स्वाधीनता की भावना को वनाये रखते हुए समझौता मंजूर कर लेने की, और अपने गांव या राष्ट्र का सुधार करने के लिए अन्य लोगों के साथ सहयोग करने की निपुणता है।

जहां ये आधारभूत राजनीतिक योग्यताएं विद्यमान होती हैं, वहाँ सवल प्रजातन्त्रात्मक उन्नति की संभाव्यता होती है। जहां इन योग्यताओं का अभाव होता है, वहां अन्ततोगत्वा या तो अव्यवस्था की, या फिर एकतन्त्र की ही आशा की जा सकती है।

औपनिवेशिक युग ने अधिकांश अल्प विकसित राष्ट्रों में इन अत्यावश्यक सामाजिक और राजनीतिक निपुणताओं के विकास को रोके रखा, जव कि साथ ही उसने संरचना, दिशा और अग्रताओं में

परिवर्तन के लिए ऐसी मांगें उत्पन्न कर दीं, जिन्हें पूरा करना सबसे अधिक उन्नत राष्ट्रों की प्रशासनिक क्षमताओं के लिए भी बहुत कठिन सिद्ध होता।

इस सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जन-साधारण में साझेदारी और व्यक्तिगत जिम्मेदारी की भावना उत्पन्न करने की ओर पहले कदम के रूप में शिक्षा का कितना अधिक महत्व है। साक्षर व्यक्ति छपी हुई सामग्री को पढ़कर उन सब सम्भावनाओं का पता चला सकता है, जो जीवन में उसके सामने प्रस्तुत हैं। वह अपने परिवार और अपने लिए क्या कुछ कर सकता है, इसकी कल्पना उसके लिए सबसे अधिक शक्तिशाली प्रोत्साहन का काम देती है। साक्षर व्यक्ति अनुदेशों को पढ़ सकता है; और उसमें सीधी-सादी तकनीकी निपुणताओं का विकास केवल उन्हें रट कर नहीं, अपितु समझने के द्वारा हो सकता है।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि साक्षर लोगों को नागरिक के रूप में उनके अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति जागरूक किया जा सकता है; फिर उन्हें अपने समाज के उन बद्धमूल और परम्परा के प्रति सजग तत्वों की दया पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं होती, जो उन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों के मार्ग में बाधक होते हैं, जिन्हें कि वे साक्षर लोग लाना चाहते हैं।

जापान की युद्धोत्तर काल में जो आश्चर्यजनक प्रगति हुई है, वह मेरे विचार से, यदि वहां के ५८ प्रतिशत से भी अधिक लोग लिखना-पढ़ना न जानते होते, तो असम्भव होती। अधिकांश विकासोन्मुख देशों में साक्षरता की संख्या अब भी ३० प्रतिशत से नीचे है।

४

विकास के हमारे पाँच आवश्यक तत्वों में से चौथा तत्व–जनसंख्या का नियमन—उन उठते हुए राष्ट्रों में तात्कालिक, विशेष महत्व का है, जिनमें विशाल और बढ़ती हुई जनसंख्या का दबाव सीमित प्राकृतिक

साधनों पर पड़ रहा है। अनेक देशों में यह समस्या अभी उपस्थित नहीं हुई। उदाहरण के लिए, अफ्रीका के अधिकांश देशों में जनसंख्या अपेक्षाकृत थोड़ी है और वहां के साधन काफी अधिक हैं। हो सकता है कि वहां उन्हें खेतों को जोतने और मशीनों को चलाने के लिए बहुधा और अधिक आदमियों की आवश्यकता अनुभव होती हो।

उन अधिक सघन जनसंख्या वाले राष्ट्रों में भी, जो अपनी जनसंख्या की वृद्धि को रोक पाने में असमर्थ हैं, बड़े पैमाने पर उस प्रकार की भुखमरी का तात्कालिक खतरा बहुत कम है, जिसकी माल्थस ने भविष्यवाणी की थी। उदाहरण के लिए, भारत पर्याप्त रासायनिक खादों और अपेक्षाकृत उन्नत तकनीकों के प्रयोग द्वारा उन्हीं क्षेत्रों से, जिनमें कि इस समय खेती हो रही है, खाद्य सामग्री के उत्पादन को तिगुना कर सकता है; और यहां मत्स्य-पालन का अत्यधिक विस्तार करके जो लाभ उठाया जा सकता है, उसकी ओर तो अभी बहुत ही कम ध्यान दिया गया है।

भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, इंडोनेशिया और चीन जैसे पहले से ही घनी जनसंख्या वाले देशों में लगातार तेज़ी से बढ़ती हुई जनसंख्या का असली आर्थिक दुष्प्रभाव यह होता है कि इससे प्रति व्यक्ति आय में होने वाली वृद्धि मन्द पड़ जाती है। इस प्रकार के देशों में आर्थिक उन्नति की उतनी ही चाल से, जितनी से कि अन्य दशाओं में औसत नागरिक को एक सन्तोषप्रद प्रगति की अनुभूति हो सकती थी, उसे केवल इतना अनुभव होता है कि वह जहां का तहां खड़ा है।

एक ओर कांगों तथा सूडान और दूसरी ओर भारत की परस्पर तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है। कांगों और सूडान, दोनों में से प्रत्येक का आकार भारत के आकार का लगभग दो तिहाई है और इनमें से प्रत्येक की जनसंख्या लगभग एक करोड़ साठ लाख है, जबकि इनकी तुलना में भारत की जनसंख्या ४५ करोड़ है; और इन दोनों के प्राकृतिक साधन अनुपात में लगभग भारत जैसे ही हैं। इसलिए जब एक बार

वहां तकनीकी प्रशिक्षण और पूंजी सामान्यतया उपलब्ध हो जायेगी, तब यह आशा की जा सकती है कि इन दोनों अफ्रीकी राष्ट्रों में प्रति व्यक्ति आय भारत की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्र गति से बढ़ेगी। क्योंकि श्रम बचाने के साधनों का मूल्य अधिक होगा, इसलिए मजदूरों के वेतन बहुत अधिक बढ़ जायेंगे।

यद्यपि पिछले दस वर्षों में भारत की राष्ट्रीय आय प्रति वर्ष लगभग ४ प्रतिशत की दर से बढ़ी है, किन्तु जनसंख्या में ढाई प्रतिशत वृद्धि हो जाने के कारण प्रति व्यक्ति आय में हुई वृद्धि डेढ़ प्रतिशत से भी कम रह गई है।

भारत की जनसंख्या का सन्तुलन ठीक करने के लिए अब बड़ा यत्न किया जा रहा है। १९३० में जन्म दर प्रति हजार ४८ थी; अब यह प्रति हजार ४१.५ रह गई है। बम्बई जैसे नागरिक क्षेत्रों में, जहां जनसंख्या की रोकथाम करने के लिए कुछ वर्षों से सतत प्रयत्न किया जा रहा है, जन्म दर अब प्रति हजार लगभग ३० है।

विशेषज्ञों का विचार है कि यदि इस समय उपलब्ध कार्यक्रमों और तकनीकों को सुचारु रूप से कार्यान्वित किया जाये, तो सन् १९७४ तक जन्म दर घटा कर प्रति हजार २५ की जा सकती है. जबकि उस समय प्रत्याशित मृत्यु दर प्रति हजार १४ होगी। यदि यह कार्य सम्पन्न हो जाये, तो भारत की वर्तमान प्रति व्यक्ति आय में हुई वृद्धि दुगुनी हो जायेगी। यदि अन्ततोगत्वा जन्म दर और मृत्यु दर को सन्तुलित किया जा सके और जनसंख्या को स्थिर किया जाये, तो राष्ट्रीय उत्पादन में अब जो प्रति वर्ष औसत ४ प्रतिशत की वृद्धि होती है, वह सालों साल बढ़ते हुए रहन-सहन के ऊपर आश्चर्यजनक प्रभाव डाल सकेगी।

५

पाँचवां और अन्तिम आवश्यक तत्व उस परिवेश से सम्बन्धित है, जिसमें कि विकास हो रहा होता है। वे चारों पहले से आवश्यक

वस्तुएं, जिनके सम्बन्ध में हमने अभी विचार किया है—पूंजी, प्रोत्साहन, निपुणता और जनसंख्या का नियमन—सांस्कृतिक या राजनीनिक शून्यता में अपना कार्य नहीं कर सकतीं। प्रत्येक नये राष्ट्र को इन तत्वों पर इन्हें अपने अतीत के अनुभव, अपनी वर्तमान आवश्यकताओं और अपनी भविष्य की कल्पना के ढांचे के अन्दर रख कर ही विचार करना होगा।

केवल ऐसा करके ही वह राष्ट्रीय लक्ष्य की उस भावना का विकास करने में समर्थ होगा, जो विभिन्न प्रकार के लोगों को एक जगह संगठित कर देती है और उन लोगों तथा उनके नेताओं के मध्य पारस्परिक सद्‌भावना और सम्मान का एक सेतु बन जाती है।

संयुक्त राज्य अरीमका अभी तक भी अपनी उस राजनीतिक कल्पना को साकार करने में जुटा है, जिसकी घोषणा हमारे राष्ट्र के संस्थापकों ने लगभग दो शताब्दी पहले बहुत सुन्दर शब्दों में की थी। हमारी 'स्वाधीनता की घोषणा' में यह बात जोर देकर कही गई है कि "सब मनुष्य समान उत्पन्न हुए हैं।" इस घोषणा के लेखक थामस जैफर्सन का विश्वास था कि, "सब आँखें मनुष्य के विचारों तक पहुंचने के द्वार हैं.... न तो मनुष्य जाति का अधिकांश भाग अपनी पीठ पर काठियाँ कसवा कर उत्पन्न हुआ है और न कुछ थोड़े से विशेषाधिकार प्राप्त लोग ईश्वर की दया से बूट पहने और एड़ लगाये ही उत्पन्न हुए हैं कि वे उन लोगों पर तुरन्त सवारी कर सकें।"

व्यक्ति के गौरव के महत्व में इस गंभीर विश्वास से ही संसार की पहली बड़ी उपनिवेश-विरोधी क्रान्ति और राजनीतिक प्रजातन्त्र के परीक्षण का आरम्भ हुआ था। यद्यपि हमारे परम्परागत उद्देश्य अभी तक पूरी तरह उपलब्ध नहीं हो पाये हैं, फिर भी अमरीकावासियों की हर आगे आने वाली पीढ़ी अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और उन्नति के अवसर के आधार को विस्तृततर करने के लिए कार्यशील रही है।

भारत जो कुछ बनने के लिए कृत-सकल्प है, उसकी उसके मन में एक अपनी ही कल्पना है। गांधी जी ने इस बात को समझा था कि "जो

वस्तु एक दशा में स्थित किसी एक राष्ट्र के लिए भली है, वह, आवश्यक नहीं कि दूसरी दशा में स्थित किसी अन्य राष्ट्र के लिए भी भली हो। भारत को अपनी एक अलग ही अर्थ-व्यवस्था और अपनी अलग ही नीति का विकास करना होगा।"

भारतीय कल्पना की आधार-शिला है—मानव प्राणी के व्यक्तित्व के सर्वोच्च मूल्य में विश्वास। गांधी जी ने इस बात को जोर देकर कहा था कि "आधुनिक शब्दावली में, अपने व्यक्तित्व को गंवा देना मानवीय गौरव को लांछित करना है और एक बड़ी मशीन का केवल एक दांता भर बन कर रह जाना है। मैं तो चाहता हूं कि प्रत्येक व्यक्ति समाज का एक उत्साही और पूर्णतया विकसित सदस्य बने।"

'बड़प्पन' के विषय में गहरा सन्देह और सामाजिक सद्विवेक की एक प्रबल भावना, जो गांधी जी की पूर्णतया प्रजातन्त्रात्मक शिक्षाओं में प्रतिबिम्बित हुई है, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आने वाली पीढ़ियों में भारतीय विकास की रूपरेखा निश्चित करती रहेगी।

उन नेताओं के हाथों में, जो समूचे राष्ट्र के हित में जुटे हैं, इस प्रकार की कल्पना प्रगति के लिए एक प्रभावी साधन है। यदि नेता लोग जनता में एक लक्ष्य की भावना इस प्रकार जगा सकें कि वह उन सबकी एक बहुमूल्य राष्ट्रीय निधि बन जाये, तो विकास के इस युद्ध में विजय प्राप्त की जा सकती है।

६

तो, नये विकसित होते हुए देशों में द्रुत और सन्तुलित उन्नति के लिए एक ऐसी उन्नति के लिए, जिसमें प्रत्येक नागरिक की ऊर्जा का उपयोग होता है और जिससे प्रत्येक नागरिक का जीवन समृद्ध बनता है, ये पाँच आधार भूत आवश्यक तत्व हैं।

यद्यपि मुझे इनमें एक छठा आवश्यक तत्व जोड़ देने का लोभ हो

आया है—यह है आर्थिक उन्नति के प्रति एक व्यावहारिक कट्टर-सिद्धान्त-हीन दृष्टिकोण—परन्तु मुझे लगता है कि यह शर्त हमारे अब तक के सारे विचार-विमर्श में गर्भित रही ही है।

जो विकासोन्मुख राष्ट्र अपनी जटिल समस्याओं का उत्तर किसी एक बिल्कुल स्पष्ट लगी-बंधी विचारधारा द्वारा पा लेना चाहते हैं, उनको असफलता ही हाथ आयेगी। पूंजीवाद, जिस रूप में कि ऐडम स्मिथ ने उसकी परिभाषा की थी, और साम्यवाद, जिस रूप में मार्क्स, ऐंजिल्स, लेनिन और स्तालिन ने उसे प्रस्तुत किया था, हमारे आधुनिक जटिल संसार में बहुत कुछ अयथार्थ हो गये हैं। राष्ट्रीय विकास के कार्य अपने आप में ही काफी दुःसाध्य हैं, फिर उन्हें किसी अन्य काल के भावना-भरे नारों और राजनीतिक उत्तराधिकारों द्वारा और अधिक उलझाना तो इन कार्यों को और भी दुष्कर बनाना है।

राष्ट्रीय विकास की चुनौती का सामना करने के लिए भारत विदेशों से पश्चिमी यूरोप से, स्वीडन से, यूगोस्लाविया से, जापान से और अमरीका से कुछ धारणाएं और कुछ तकनीकें अवश्य ग्रहण कर सकता है। फिर भी, मेरा विश्वास है कि भारत मुख्यतया अपनी आन्तरिक शक्ति, अनुभव और परम्पराओं का ही सहारा लेगा और इन तत्वों को अपने ही ढंग से उन पाँच आवश्यक तत्वों के साथ मिलायेगा, जिनका कि मैंने अभी वर्णन किया है।

२

ग्राम विकास की प्रक्रिया

राष्ट्र निर्माण के इन पांच अत्यावश्यक तत्वों की इस पृष्ठभूमि में अब ग्राम विकास के प्राथमिक महत्व पर विचार कर लेना उचित होगा। अन्य स्थानों की भांति, यहां भी हमारे लिए अपने पारिभाषिक शब्दों की परिभाषा कर लेना आवश्यक है।

'ग्रामीणक्षेत्रों' से मेरा अभिप्राय सारे एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका में स्थित केवल गांवों और उनके चारों ओर फैले हुए खेती के क्षेत्रों से ही नहीं है, अपितु ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित उन कस्वों से भी है, जिनकी जनसंख्या दो या तीन हज़ार से लेकर कई हज़ार तक है और जो देहात के किसानों और भूमिहीन मजदूरों के लिए व्यापारिक केन्द्रों के रूप में काम करते हैं।

'ग्राम विकास' से मेरा अभिप्राय केवल कृषि सम्बन्धी विस्तार से नहीं, अपितु लघु उद्योगों, विद्यालयों, प्रशिक्षण केन्द्रों, उन्नत संचार साधनों, ग्रामों में बिजली लगाने, सार्वजनिक स्वास्थ्य, जनसंख्या नियमन केन्द्रों की वृद्धि से, और यहां तक कि ग्रामीण सांस्कृतिक चेतना को जगाने से भी है।

यद्यपि लगभग दो हजार वर्ष पहले 'कुराल' ने यह कहा था कि

"किसान समूचे सामाजिक रथ की चूल हैं", फिर भी, व्यवहार में इस स्वयं सिद्ध वाक्य की अधिकांशतः उपेक्षा ही की जाती रही है। एशिया और अफ्रीका में कई शताब्दियों तक एक के बाद एक आक्रान्ता सम्राट् और बाद में औपनिवेशिक शक्तियां आती और जाती रहीं, किन्तु उनका ग्रामीण जनता पर बहुत कम प्रभाव पड़ा; इन ग्रामीण लोगों में से अधिकांश को तो अपनी सरकार का मान ही तब होता था, जबकि वह सरकार कर बढ़ा देती थी या सैनिक सेवा के लिए जवान लोगों की अधिक संख्या में भर्ती करने लगती थी। लैटिन अमरीका में भी ग्रामीण क्षेत्रों की इतिहास ने अधिकांशतः उपेक्षा ही की।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विकासोन्मुख देशों के स्वाधीनता के लिए संघर्ष और औपनिवेशिक शक्तियों के हट जाने के बाद अधिकांश नये नेताओं को मुख्यतया चिन्ता औद्योगिक उन्नति की रही, जिसे कि वे पश्चिम की आर्थिक उन्नति का शानदार प्रतीक समझते थे। इस सम्बन्ध में भारत में भी ऐसे नगर-अभिमुख शंकाशील व्यक्ति प्रभूत संख्या में रहे, जो किसानों को, कार्ल मार्क्स के शब्दों में, "ग्रामीण जीवन की मूढ़ता में" डूबा हुआ समझते थे और औद्योगिक विस्तार को ही प्रगति का एकमात्र सच्चा माप मानते थे।

अभी काफी हाल ही में उन ८० प्रतिशत लोगों का, जो इन विकसित होते हुए राष्ट्रों के ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करते हैं, महत्व आश्चर्यजनक रूप से स्पष्ट हो उठा है। राजनीतिज्ञ लोग यह समझने लगे हैं कि जो किसान आर्थिक प्रगति के सुस्पष्ट संकेतों को नहीं देख सकते, उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे सरकार के साथ अपना एकात्म्य अनुभव करेंगें और इस लिए कोई भी सुचारु राजनीतिक व्यवस्था अधिकांशतः जो कुछ देहातों में हो रहा होता है, उस पर ही निर्भर होती है।

अर्थशास्त्री लोग स्वदेश में उपभोग के लिए और यदि सम्भव हो, तो निर्यात के लिए उपलब्ध भोजन की मात्रा और विविधता को बढ़ाने

की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। अनेक विकासोन्मुख देशों में कृषि ही वस्तुतः एकमात्र विद्यमान उद्योग है; यदि वहां किसी उचित चाल से पूंजी के संचय की आशा रखनी हो, तो कृषि का अधिकतम विस्तार किया जाना चाहिए। और क्योंकि इस प्रकार के राष्ट्रों में सकल राष्ट्रीय उपज का आधा भाग खेती की उपज के रूप में होता है, इसलिए उनके उत्पादन का राष्ट्रीय उत्पादन की उन तालिकाओं पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है, जिनके आधार पर अपेक्षाकृत बड़े निर्णय किये जाते हैं।

इसके अलावा, उतने ही रुपयों का यदि पूंजीगत विनियोग ग्रामीण क्षेत्रों में किया जाये, तो उसका प्रभाव अन्य किसी भी क्षेत्र में किये गये विनियोग की अपेक्षा अधिक लोगों पर पड़ेगा और उससे अधिक उन्नति होगी। किसी मंडी तक सड़क बनाने या बिजली की लाइन के विस्तार या किसी कुएं को गहरा करने से तात्कालिक आर्थिक लाभ होते हैं और इनके लिए विदेशी मुद्रा की भी आवश्यकता नहीं होती।

जो लोग अधिक दूरदर्शी हैं, उन्हें यह भी दिखाई पड़ता है कि औद्योगिक उन्नति के लिए पहले ग्राम विकास का किया जाना आवश्यक है। यदि किसी विकासोन्मुख राष्ट्र के उन ८० प्रतिशत लोगों में, जो ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं, उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं को अधिक मात्रा में खरीदने की शक्ति न हो—और इस समय भी इस प्रकार के अनेक देशों में ग्रामीण क्षेत्र मुद्रा अर्थ-व्यवस्था के अंग तक नहीं हैं—तो नागरिक उद्योगों की उन्नति ग्राहकों के आभाव के कारण मन्द हो जायेगी। इसके अतिरिक्त, क्योंकि भोजन नागरिक मजदूर के घर-खर्च का आधा भाग होता है, इसलिए भोजन के संभरण और उसके सुचारु वितरण का नागरिक केन्द्रों के कल्याण और राजनीतिक मनोदशा पर सीधा और बहुत अधिक प्रभाव होता है।

अन्तिम बात यह है, कि समाज शास्त्री लोग ग्राम विकास को, उसके विस्तृततम अर्थों में, महत्वाकांक्षी और होनहार युवकों के ग्रामीण

क्षेत्रों को छोड़ कर शहरों की ओर भागने की गति मन्द करने का एक मात्र प्रजातन्त्रात्मक उपाय समझते हैं; गांवों से शहरों की ओर युवकों की गति ऐसी वस्तु है, जो गांधी जी के शब्दों में "गांवों के जीवन रक्त को" चूस लेती है। ज्यों-ज्यों विकसित होते हुए राष्ट्र आर्थिक वेग पकड़ते हैं, त्यों-त्यों जनसंख्या का यह प्रभाव तीव्र और तीव्रतर होता जाता है और ग्रामीण जीवन की सीमाओं में बंधे हुए युवक शहरों को स्वर्ग समझने लगते हैं, जहां नौकरी के अवसरों और आधुनिक जीवन के आवेश की प्रचुरता होती है।

परन्तु वस्तुतः नगर-जीवन की ओर संक्रमण बहुधा अप्रिय होता है। जब एक बार नगर में नये पहुंचे हुए किसान अपने सुपरिचित पारिवारिक सम्बन्धों, नदियों और खेतों समेत अपने गांव में प्राप्त अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षा का विनिमय शहर की भीड़-भाड़-भरी गन्दी बस्तियों के कठोर जीवन से कर लेते हैं, तब उनको व्यक्तिगत निराशा और असुरक्षा की एक ऐसी अनुभूति होने की सम्भावना रहती है, जो अनिवार्यतः राजनीतिक अशान्ति के रूप में प्रकट होती है।

नागरिक केन्द्रों की ओर होने वाले इस संचलन को मन्द करने का एकमात्र प्रभावी उपाय यह है कि ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक उन्नति के अधिकाधिक अवसरों की एक ऐसे परिवेश में व्यवस्था की जाये, जिसमें व्यक्ति को कुछ सार्थक वैयक्तिक महत्व का काम करने को मिलता हो; और सबसे बढ़ कर यह कि उसे ऐसा अनुभव हो कि उसका भी अपना कुछ महत्व है।

१

यदि किसी नये उठते हुए राष्ट्र की सुव्यवस्थित राजनीतिक और आर्थिक उन्नति के लिए द्रुततर गामीण विकास एक अत्यावश्यक वस्तु है, तो साथ ही यह विकास का सबसे कठिन पहलू भी है। ग्रामीण

समाजों पर साधारणतया सोचने और करने की वे परम्परागत विधियां हावी रहती हैं, जो आसानी से बदलती नहीं; इस कारण ग्राम सुधार के सम्बन्ध में वे तुरत-फुरत के कार्यक्रम सफल नहीं हो पाते, जिनके परिणाम तात्कालिक होते हैं और स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं।

एशिया, अफ्रीका या लैटिन अमरीका के ग्रामीण क्षेत्र की विशालता ही, जिसमें कि हजारों गांव बसे हुए हैं, नाटकीय प्रगति के मार्ग में अपने आप में एक बड़ी बाधा है। यद्यपि एक पनबिजली के कारखाने से एक औद्योगिक सम्मिश्र (परस्पर सम्बन्धित कारखानों के समूह) को सचमुच रातों-रात पनपाया जा सकता है, किन्तु हो सकता है कि उसके बिल्कुल निकट के गांव में सर्व प्रथम बिजली से चलने वाला पम्प लगने में अनेक वर्ष लग जायें, और सिंचाई के पानी का पूरी तरह प्रभावी उपयोग होने में शायद इससे भी अधिक लम्बा समय लग जाये।

इससे हम फिर एक और बहुत महत्व की बात पर आ पहुंचते हैं, जिस पर मैं हर मौका मिलने पर बार-बार ज़ोर दूंगा। ग्राम विकास का सब से कठिन, और साथ ही सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इसका सम्बन्ध मुख्यतया लोगों से होता है; ऐसे असंख्य स्वतन्त्र हाथों और मस्तिष्कों के साथ, जिनको केन्द्रीय रूप से नियन्त्रित नहीं किया जा सकता, किन्तु जो विकसित होती हुई ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में सृजनशीलता के एकमात्र महत्वपूर्ण स्रोत होते हैं।

जनसाधारण में, उत्साह और सहयोग की भावना को, जो बहुधा शताब्दियों तक हुए आशाहीन दमन के नीचे दबी होती है, जगाये बिना विकास असम्भव है। इससे उन पांच आवश्यक तत्वों में से एक का महत्व स्पष्ट हो जाता है, जिन पर पहले अध्याय में विचार किया गया था : वह है—स्पष्ट दिखाई पड़ने वाले लाभों के काफी कुछ न्यायोचित और शीघ्र वितरण की आवश्यकता, और व्यक्तिगत सहयोग की एक व्यापक भावना का जगाया जाना।

यद्यपि, वे बहुत से अर्थशास्त्री, जिनकी आँखें सकल राष्ट्रीय उपज

की गतिविधि पर जमी रहती है, इस तत्व की उपेक्षा कर देते हैं, फिर भी यह बहुत ही महत्वपूर्ण तत्व है। यदि करोड़ों ग्रामीण लोगों को भविष्य के निर्माण में न लगाया जा सके, तो कितनी भी बड़ी मात्रा में खड़े किये गये उद्योग से वे आधारभूत आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन न हो सकेंगे, जो राष्ट्रीय विकास के उचित लक्ष्य हैं। इसलिए ग्राम विकास के किसी भी कार्यक्रम का प्रमुख लक्ष्य यह होना चाहिए कि ग्रामीण बहुमत की ऊर्जाओं को उनके ग्रामों और कस्बों में उन्मुक्त किया जाये।

हमें अब यह स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लेना चाहिए कि यह समस्या इतनी भयावह है कि जिसके हमारे पास कोई पूर्णतः यथेष्ट हल नहीं हैं। अफ्रीका में कबीलों के प्रति निष्ठा की पेचीदगियों का, एशिया में जाति के भेदभाव का और सब कहीं प्राचीन जीवन-मूल्यों का आधुनिक योजना बनाने वालों की अग्रताओं से बहुत कम सम्बन्ध है। इन बातों के कारण परिवर्तन में ऐसी बाधाएं आ खड़ी होती हैं, जिनको कभी भी कम करके नहीं आंका जाना चाहिए।

फिर भी, स्पष्ट ही कुछ कदम ऐसे हैं, जो उठाये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, संवेदनशील नेतृत्व के द्वारा उत्पादक के रूप में किसान की कार्यक्षमता को शिक्षा द्वारा, गाँवों में वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार द्वारा, और प्रदर्शन की परियोजनाओं द्वारा बढ़ाया जा सकता है। उपभोक्ता के रूप में उसकी आवश्यकताओं को नई-नई वस्तुएं उसके सामने प्रस्तुत करके बढ़ाया जा सकता है। अन्तिम बात यह है कि नागरिक के रूप में उसकी स्थिति को शनैः शनैः इस ढंग से उन्नत किया जा सकता है कि उसे विकास की प्रक्रिया में लगाया जाये, क्योंकि प्रजातन्त्र में यह पक्की आस्था की बात होती है कि प्रभावी और उत्तरदायी सरकार के लिए पहली आवश्यक शर्त यह है कि उसमें सब नागरिकों का सहयोग हो और यह कि इस प्रकार का सहयोग राज्य की ऊर्जाओं को सबसे अधिक वांछनीय मार्गों पर ले जाता हो।

इन सब उपायों का लक्ष्य यह है कि किसान को धीरे धीरे, किन्तु स्थिर रूप से अपनी उन्नति की क्षमता को विकसित करने में समर्थ बनाया जाये और उसे अपनी योग्यताओं का उसके अपने लाभ, और उसके परिवार और समाज के लाभ के लिए अधिकाधिक प्रभावी रूप से उपयोग करने में समर्थ बनाया जाये।

परन्तु ज़ोर नई सम्भावनाओं के प्रति लोगों के मनों को खोल देने की नाज़ुक प्रक्रिया पर दिया जाना चाहिए; मनमाना नियन्त्रण करने के प्रयत्न लगभग सुनिश्चित रूप से असफल रहते हैं—जैसा कि चीनी लोगों को अपने अनुभव से पता चला है।

२

इस प्रसंग में संक्षेप से यह विचार कर लेना उपयोगी होगा कि ग्राम विकास के सम्बन्ध में किये गये साम्यवादी प्रयत्न चीन में क्यों असफल रहे और रूस में क्यों पिछड़े रहे।

मार्क्स का ध्यान मुख्य रूप से नागरिक 'सर्वहारा' (श्रमिकवर्ग) पर था; उसने ग्रामीण समस्याओं का जिक्र अपेक्षाकृत बहुत कम अनुच्छेदों में किया है। १८४८ के 'साम्यवादी घोषणा-पत्र' की नीति यूरोप के करोड़ों गरीब और शोषित किसानों के लिए निम्नलिखित कुछ प्रासंगिक सी सिफारिशों तक ही सीमित रही : "औद्योगिक सेनाओं की, विशेष रूप से कृषि के लिए, स्थापना, कृषि का निर्माण-सम्बन्धी उद्योगों के साथ सम्मिश्रण, सारे देश में जनसंख्या के अपेक्षाकृत अधिक एकरूप वितरण द्वारा शहर और देहात के बीच भेदभाव की शनैः शनैः समाप्ति।"

संक्षेप में, मार्क्स किसान को भी एक प्रकार का औद्योगिक मजदूर समझता था, जो खासतौर से विकास की निम्न दशा में विद्यमान था। एक ऐसे आर्थिक इतिहासकार के रूप में, जिसके मन में अतीत और

भविष्यत, दोनों की एक स्पष्ट धारणा विद्यमान थी, मार्क्स किसान को एक अनाधिकारी प्रवेशकर्ता और कुछ परेशान करने वाली सी वस्तु समझता था।

मार्क्सवादी सिद्धान्त की इस दुर्बलता को लेनिन की प्रतिभा ने समझा और इसलिए उसने बोल्शेविक क्रान्ति की सफलता के लिए रूसी किसान के निर्णायक महत्व को भांप लिया। जब ७ नवम्बर १९१७ को उसने यह घोषणा कर दी कि रूस की सारी भूमि उन लोगों की है, जो उस पर खेती करते हैं, उसके बाद ही लेनिन को यह भरोसा हो सका कि अब क्रान्ति सचमुच ही 'अटल' हो गई है। उसे पता था कि किसान अपनी इस नई प्राप्त हुई भूमि के लिए, और इससे पहले की स्थिति को फिर लौटाने के किसी भी प्रयत्न के विरुद्ध जी जान से लड़ेंगे।

१९१८ से १९२८ तक रूसी किसान अपेक्षाकृत स्वतन्त्र था और अधिकांश मामलों में अपनी भूमि पर उसका स्वामित्व भी था। परन्तु सन् १९३० में स्तालिन ने बिल्कुल एकाएक फिर पुराने उद्योग-अभिमुख क्रान्तिकारी कट्टर सिद्धान्त को अपना लिया। उसने यह भांप लिया कि वे तीन करोड़ रूसी किसान परिवार, जिनमें से अधिकांश की अपनी अलग-अलग वैयक्तिक भूमि थी, साम्यवादी राज्य की स्थापना में एक दुर्जय राजनीतिक रोक बने रहेंगे। इसलिए उसने उन सबको विशाल सामूहिक फार्मों में ठूंसने का एक बर्बर प्रयत्न शुरू किया। स्तालिन ने स्वयं विन्स्टन चर्चिल के सामने यह स्वीकार किया था कि इस प्रक्रिया में कोई एक करोड़ किसान मर गये थे।

बड़े पैमाने पर किये गये रूसी ग्रामीण जीवन के इस पुनर्गठन में रूसी कृषि की रचना कई दृष्टि से स्तालिन के अनुकूल थी। प्रति व्यक्ति अन्न का उत्पादन बहुत अधिक था और प्रति वर्ग मील जनसंख्या अपेक्षाकृत कम थी। प्रथम विश्व युद्ध से पहले ज़ार-शासित रूस प्रतिवर्ष एक करोड़ टन अनाज का निर्यात किया करता था। हालांकि इस पहले से विद्यमान अन्न के अतिरेक के कारण न्यून उत्पादन के विरुद्ध काफी कुछ

सुरक्षा थी, फिर भी स्तालिन के समूहिक कृषि के कार्यक्रम के कारण सोवियत संघ राजनीतिक और आर्थिक विपत्ति के बिल्कुल किनारे तक जा पहुँचा था।

चीन में भी स्थिति बहुत कुछ इन्हीं दिशाओं में विकसित हुई, किन्तु वहां की दशाएं इससे भी कम सुविधाजनक थीं। जैसा कि आगे हम चीन और भारत के अनुभवों की अन्तिम अध्याय में तुलना करते हुए देखेंगे, इस समय चीन के सामने एक गम्भीर राष्ट्रीय संकट उपस्थित है।

यद्यपि सोवियत रूस और चीन की साम्यवादी कृषि अलग-अलग मात्रा में और अलग-अलग रूपों में असफल रही है, फिर भी उस असफलता के मूल कारण एक से ही हैं। इन दोनों देशों ने आर्थिक और सामाजिक उन्नति के मध्य एक समुचित सन्तुलन की आवश्यकता की ओर ध्यान नहीं दिया; साभिप्राय प्रोत्साहन प्रस्तुत करने के वजाय वे नियन्त्रणों का एक जाल सा फैलाते गये, जिसने किसानों की जीवनी शक्ति को चूस लिया; और उनके सामने, चाहे वे कितना ही कठोर श्रम क्यों न करें फिर भी, अपनी दशा को सुधार पाने की कोई सच्ची आशा प्रस्तुत नहीं की गई।

किसान परिवारों को प्रोत्साहन देने का महत्व मेरे सम्मुख कुछ मास पहले कम्वोडिया के राजा सिहानुक ने रखा था,। जव मैंने उनसे पूछा कि इसका क्या कारण है कि कम्वोडिया के किसान अपनी इतनी उपजाऊ भूमि और प्रचुर वर्षा के होते हुए भी साल में चावल की केवल एक ही फसल उगाते हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया था, कि "इसका कारण यह है कि हम पर्याप्त संख्या में साइकिलें तैयार नहीं करते।"

जव कम्वोडिया के किसान के सम्मुख अपने रहन-सहन के स्तर को सुधारने के लिए आकर्षक उपभोग्य वस्तुएं हैं ही नहीं, और उसे अपने परिवार के लिए पर्याप्त भोजन मिल जाता है, तो वह दूसरी फसल उगाने के लिए खेत में तीन चार महीने अतिरिक्त काम क्यों करे?

संयुक्त राज्य अमरीका में हमारी जनसंख्या का केवल ९ प्रतिशत भाग खेती करता है और वह उससे दुगना अन्न उत्पन्न करता है, जितने

का कि हम अपने देश में उपभोग कर सकते हैं। प्रति वर्ष हम लगभग दो करोड़ टन गेहूं जहाजों में भर कर विदेशों को भेजते हैं, जिसका लगभग एक चौथाई भाग भारत आता है।

कृषि की इस असाधारण उत्पादनशीलता के अनेक कारण हैं। एक बात तो यह है कि अमरीकावासी अपनी उपज को बढ़ाने के लिए नई नई तकनीकों के परीक्षण में अपने हाथ मैले करने के लिए सदा इच्छुक रहे हैं। इसके अलावा किसान की सहायता करने में सरकार का भी सदा बहुत बड़ा हाथ रहा है।

हमारे यहाँ अच्छे औजार और खाद खरीदने के लिए कम व्याज पर ऋण सरलता से मिल जाते हैं। कीमतों को नीचे न गिरने देने की नीति और फसल के बीमे के फलस्वरूप किसान को उचित कीमत मिलने का भरोसा रहता है। दूकानों में सजा कर रखी गई उपभोग्य वस्तुओं और डाक से आर्डर भेजकर माल मंगाने के सूचीपत्रों से उसे अपने काम काज को सुधारने के लिए और उसके द्वारा अपने परिवार के रहन-सहन के स्तर को उन्नत करने के लिए सुस्पष्ट प्रोत्साहन मिलता है। सबसे बड़ी बात यह है कि अमरीका के किसानों की एक विशाल बहुसंख्या में प्रोत्साहन और आत्म-विश्वास की वह भावना विद्यमान है, जो इस तथ्य के कारण उत्पन्न होती है कि अपनी भूमि के स्वामी वे स्वयं हैं।

कृषि के अधिकाधिक उत्पादन के अनुकूल इस ढाँचे की व्यवस्था करने के लिए हमारे देश की ओर से पहला कदम अब से एक शताब्दी से भी पहले उठाया गया था। सन् १८६२ में हमारे हौमस्टैड अधिनियम द्वारा किसी भी ऐसे अमरीकावासी या विदेशी व्यक्ति को, जो स्वयं खेती करने को तैयार हो, १६० एकड़ का खेत मुफ्त देने की व्यवस्था की गई थी। इतना बड़ा खेत उस समय 'एक परिवार के योग्य खेत' समझा जाता था।

उसी वर्ष मौरिल अधिनियम बनाया गया, जिसके द्वारा हमारे हर एक राज्य की सरकार को सार्वजनिक भूमि के विशाल खंड दे दिये गये, जिनसे होने वाली आय का उपयोग कृषि विज्ञान में अनुसन्धान और

प्रशिक्षण के लिए हमारे तथाकथित 'भूमि अनुदान महाविद्यालयों' [illegible] स्थापित करने के लिए किया जाना था। १८८७ में बनाये गये हैच अधिनियम द्वारा कृषि के सम्बन्ध में अनुसन्धान और परीक्षण करने के लिए राज्यों को संघ की ओर से और अधिक धन राशि देने की व्यवस्था की गई थी।

सरकार की सहायता से किये जा रहे इस विस्तृत अनुसन्धान के परिणाम हमारे करोड़ों किसानों तक एक सर्वांगीण, खेत-खेत में फैली हुई ग्राम-ज्ञान-प्रसार सेवा द्वारा पहुंचाएं जाते थे, जो भूमि अनुदान विश्वविद्यालयों द्वारा चलाई जाती थी; और यह सेवा आज भी चालू है।

इसका परिणाम यह हुआ कि अमरीकी लोक गाथाओं में वर्णित परिश्रमी और स्वतन्त्र किसान आधुनिक काल में न केवल विद्यमान है, अपितु वह फलफूल रहा है। इसका बड़ा कारण यह है कि उसकी सरकार ने वैयक्तिक आर्थिक सुरक्षा के एक ढांचे के अन्दर उसे अपनी तकनीकों को सुधारने में सहायता दी है और साथ ही उसकी स्वाधीनता और पहल शक्ति का भी आदर किया है।

हम अमरीकावासियों में अपनी ग्रामीण परम्परा के प्रति कैसी गृह–आतुरता की भावना विद्यमान है, उसका अनुमान इसी से हो सकता है कि सार्वजनिक पद के लिए खड़ा होने वाला कोई भी उम्मीदवार कितनी भी दूर तक जा कर किसान-समाज से अपना सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। जो कोई राजनीतिक नेता इतना सौभाग्यशाली रहा हो कि उसका जन्म सचमुच ही किसी फार्म पर हुआ हो, वह अपने मतदाताओं को इस तथ्य की बार-बार याद दिलाते कभी नहीं थकता।

३

अमरीका का ग्रामों का अनुभव बड़ा दबंग और शिक्षाप्रद है, किन्तु मेरी सम्मति में एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के

विकासोन्मुख राष्ट्रों को जापान के अध्ययन से सबसे अधिक शिक्षा मिल सकती है। जापान वह पहला एशियाई देश था, जिसने गुजर-बसर के खर्च मात्र पर खेती और सोपानतन्त्रीय सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित अपनी पराम्परावद्ध कृषि-अर्थ-व्यवस्था को एक आधुनिक अर्थ-व्यवस्था के गतिशील, योग देने वाले तत्व में बदल डाला।

यह प्रयत्न अनेक वर्ष पहले शुरू हुआ था। सन् १८६८ में जब सत्ता फिर मेईजी सम्राटों के हाथ में आई, तब सम्राट् की सरकार की ओर से निद्रामग्न जापानी समाज को जगाने के लिए राष्ट्रीय प्रयत्न के एक अंश के रूप में कृषि उत्पादन के प्रोत्साहन के लिए एक बड़ा प्रयत्न किया गया।

देश के आर्थिक जीवन को संगठित करके एक करने के लिए आन्तरिक शुल्क समाप्त कर दिये गये। सामन्त जमींदारों पर एक कर लगाया गया, जिससे प्राप्त होने वाली धनराशि के कुछ अंश का उपयोग उन शिक्षा सम्बन्धी, ग्राम-ज्ञान-प्रसार और बीज-सुधार की व्यवस्थाओं को स्थापित करने के लिए किया जाता था, जिनसे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को प्रत्यक्ष रूप से लाभ होता था। स्थानीय बैंकों ने भू-स्वामियों को व्याज की ऐसी दरों पर उधार देना शुरू किया, जो उस समय काफी कम समझी जाती थीं। उन उपजों का संग्रह करने के लिए संग्रहागार बनाये गये, जिन्हें तुरन्त बाज़ार में नहीं बेचा जा सकता था। कृषि की उपज की कीमतों को बहुत कुछ स्थिर कर दिया गया।

यद्यपि इन उपायों से जापानी कृषि के उत्पादन को औसत २.३ प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़ाने में सहायता मिली, फिर भी पट्टेदार किसान अब भी बहुत ही बुरी दशा में रहे, क्योंकि इस नये लाभ का अधिकांश बड़े-बड़े भूस्वामियों को ही मिला। स्वतन्त्र किसानों पर ऋण का और शोषण का बोझ अधिकाधिक बढ़ता गया और वे अधिकाधिक संख्या में पट्टेदारी की स्थिति की ओर झुकते गये। १९३०–१९४० के वर्षों में जापान की आधी भूमि पर पट्टेदार किसान खेती कर रहे थे और भूमि का औसत लगान फसल के आधे भाग से भी अधिक होता था।

जिस वर्ष फसल खराब रहती थी, उस वर्ष इसका अर्थ यह होता था कि पट्टेदार किसान ऋणग्रस्त हो जाये; इन ऋणों पर उसे बहुत तगड़ा ब्याज या तो सीधा जमींदार को, या उस स्थानीय बैंक को देना पड़ता था, जिसका नियन्त्रण बहुधा जमींदार ही करता होता था। इसके फलस्वरूप, किसान उस भूमि से अधिक और अधिक दृढ़ता से बंधता जाता था, जिस पर वह खेती तो करता था, किन्तु जिसका वह स्वामी नहीं था।

जमींदार केवल मामूली सा भूमि-कर देता था। खाद, इमारतों, औज़ारों, बीज और अन्य विविध खर्चों का भुगतान किसान करता था। इन खर्चों को देने के बाद अच्छी फसल वाले वर्ष में भी उसके पास फसल का २५ या ३० प्रतिशत से अधिक भाग नहीं बचता था। इस प्रकार जापान के देहातों में कुछ हज़ार 'स्वत्वधारियों' और करोड़ों 'स्वत्वहीन' लोगों के मध्य एक ऐसा व्यवधान खतरनाक रूप से बढ़ता जाता था, जिसका राजनीतिक दृष्टि से विस्फोट कभी भी हो सकता था।

आरम्भिक मेईजी काल की वास्तविक उपलब्धियां पूरी तरह जाती तो नहीं रहीं, किन्तु १९३०–४० के पिछले वर्षों में वे भूमि की लगभग सामन्तीय पट्टेदारी प्रणाली के अन्यायों के कारण बहुत कुछ प्रभावहीन हो गई थीं। ज्यों-ज्यों प्रोत्साहन कम होते गये, त्यों-त्यों उत्पादन घटता गया। खराब फसल वाले वर्षों में नगरों में अन्न की कमी पड़ने लगी। अच्छी फसल वाले वर्षों में भी कृषि वहां की अर्थ-व्यवस्था का एक दलित क्षेत्र ही बनी रहती थी, जो जापान की औद्योगिक उन्नति में अब किसी प्रकार का योग नहीं देती थी।

युद्ध से कुछ ही समय पहले जापानी सम्राट् की सरकार ने इस विचलन को रोकने का यत्न किया। एक कानून बनाकर जमींदारों को इस बात के लिए विवश किया गया कि 'दुर्व्यवहार' के प्रमाणित हो चुके मामलों को छोड़ कर उन्हें अपने पट्टेदार किसानों के साथ पट्टे नये करने ही पड़ेंगे। यह भी प्रयत्न किया गया कि भूमि की कीमत वार्षिक लगान से सोलह गुनी नियत कर दी जाये और किसानों को

सरल शर्तों पर ऋण दिये जायें, जिससे वे २५ वार्षिक किश्तों में अपनी भूमि को खरीद सकें।

परन्तु जापानी कृषि में प्रभावी क्रान्ति युद्ध के बाद तक नहीं आ पाई। १९४६ में जापानी सरकार ने जनरल मैकार्थर की मित्र-राष्ट्रीय सैनिक सरकार की सिफारिश पर संसार का सबसे व्यापक भूमि-सम्बन्धी सुधार शुरू किया। इस सुधार का उद्देश्य उस विधान की ही भाषा में यह था कि "इस बात को सुनिश्चित कर दिया जाये कि जो लोग जापान की भूमि को जोतते हैं, अब से उन्हें अपने श्रम के फल का उपभोग करने का समान अवसर दिया जायेगा।"

भूमि की सब जोतों के लिए ऊपरी सीमा साढ़े सात एकड़ नियत कर दी गई। केवल कुछ थोड़े से मामले इसके अपवाद रखे गये—इनमें से अधिकांश बाग थे—जिनमें कि भूमि का स्वामी स्वयं अपेक्षाकृत बड़े क्षेत्र की देख भाल कर सकता था। इससे अधिक सारी भूमि को सरकार ने बॉंड देकर खरीद लिया और उसे दो वर्ष के अन्दर किसानों में बाँट दिया। इसके परिणामस्वरूप अब जापानी किसानों में से ९४ प्रतिशत ऐसे हैं, जो अपनी भूमि के स्वामी स्वयं हैं और स्वयं उस पर खेती करते हैं; और औसत जोत तीन एकड़ की है।

इस ग्रामीण क्रान्ति के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रभाव आश्चर्यजनक रहे। मुक्त हुए जापानी किसान ने एकाएक यह अनुभव किया कि अपने जीवन काल में या अपने पिता के या अपने दादा के जीवन काल में अब पहली बार एक किसान के रूप में उसका सचमुच कुछ महत्व हुआ है। अन्ततोगत्वा उसे भी अपने कुछ अधिकार मिल गये हैं; और सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि अब उसके पास अपनी भूमि थी। इसके फलस्वरूप पहली बार उसमें आत्मसम्मान और आशा का, और इसके परिणामस्वरूप स्वयं अपनी, अपने परिवार की और अपने समाज की दशा उन्नत करने के संकल्प का आविर्भाव हुआ।

सरकार की सहायता से उसने तुरन्त ऋण देने वाली सहकारी

समितियां बना डालीं, जिनसे कम व्याज पर तुरन्त पैसा मिल सकता था। उसने अपनी उपज वाजार में बेचने के लिए भी सहकारी समतियां स्थापित कीं, जिनके कारण अव उसे यह भरोसा रहता है कि शहर के वाजारों में उसकी उपज की जो खुदरा कीमत है, उसका औसत लगभग ६० प्रतिशत अंश उसे प्राप्त हो जायेगा। उस समय विद्यमान ग्राम-ज्ञान-प्रसार व्यवस्था को सुधारा और बढ़ाया गया, जिससे उसे नई से नई तकनीकों से परिचित कराया जा सके।

इस बहुमुखी विकास-प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि अब चावल और गेहूं, दोनों की औसत जापानी खेत में प्रति एकड़ होने वाली उपज संसार में कहीं भी होने वाली सबसे अधिक उपजों में से है और वह युद्ध से पहले के स्तर से ठीक डेढ़ गुनी है। क्योंकि किसान को कोई लगान नहीं देना पड़ता, और क्योंकि उसे उपभोक्ता द्वारा चुकाई जाने वाली कीमत का पहले की अपेक्षा अधिक भाग प्राप्त होता है, इसलिए किसान को उसके श्रम का मिलने वाला प्रतिफल काफी बढ़ गया है।

इस सर्वांगीण विकास-प्रयत्न का जापान के ग्रामीण जीवन पर वहुत आश्चर्यजनक असर हुआ है। जो गांव अवसे बीस साल पहले तक एक हज़ार साल से लगभग अपरिर्वातित ही चले आ रहे थे, अव वे विजली के प्रकाश से जगमगाने लगे हैं। अनेक जापानी किसानों की पत्नियां अव अपने कपड़े विजली की मशीनों से धोती हैं। वहां के कुल ग्रामीण मकानों में से लगभग आधे ऐसे हैं, जिनके ऊपर टेलीविजन के एरियल लगे हुए हैं और हज़ारों किसान अपनी पत्नियों को मोटर साइकिल पर विठा कर वाजार में खरीदारी करने के लिए ले जाते हैं।

४

उल्लेखनीय वात यह है कि जापान में ग्रामों की समृद्धि के कारणों में से एक, और साथ ही उस समृद्धि की एक वड़ी गौण उपज वे वहुत

से फलते-फूलते छोटे-छोटे कारखाने हैं, जो सारे देहात में जहां-तहां छिटके हुए हैं। यद्यपि वे इतने काफी आधुनिक और यान्त्रिक हैं कि वे किसी भी औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था में सफलतापूर्वक प्रतिस्पर्धा में ठहर सकते हैं, फिर भी वे वहां उपलब्ध अंशकालिक मजदूरों के लिए और ग्रामीण क्षेत्रों की विशिष्ट वाणिज्यिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त हैं।

हर चार जापानी किसानों में से तीन अब अपनी कृषि से होने वाली आय को मछलियों को पण्योपयोगी बनाने, खाद्य पदार्थों को डिब्बा बन्द करने के छोटे कारखानों, खेती के औज़ार बनाने वाली व्यवसाय-संस्थाओं और बीसियों अन्य उद्योगों और सेवा संगठनों में अंशकालिक और मौसमी कार्यों के द्वारा और अधिक बढ़ा लेते हैं।

युद्ध के तुरन्त बाद के दिनों में जापान के छोटे खेतों में असाधारण रूप से बढ़िया खेती, जिसमें भूमि-सुधार से नई चेतना आ गई थी, प्रत्येक परिवार द्वारा मुख्यतः अपने हाथों की मेहनत से ही की जाती थी। जितनी सावधानी के साथ इस खेती में प्रत्येक पौधे की देखभाल की जाती है, उसके कारण इसे खेती न कह कर 'बागबानी' कहना कहीं अधिक उचित है। वहां प्रति एकड़ उपज अमरीका की अपेक्षा अधिक है।

अब ज्यों-ज्यों अंशकालिक काम अधिक और अधिक उपलब्ध होते जाते हैं, त्यों-त्यों अनेक जापानी किसान लघु स्तर के शक्तिचालित खेती के उपकरण खरीद रहे हैं, जिससे वे उन छोटे कारखानों और सेवा संगठनों में, जो सब जगह बनते जा रहे हैं, काम करने के लिए अधिक समय पा सकें। कृषि के उत्पादन में यन्त्रीकरण के फलस्वरूप जो कमी होती, उसे रासायनिक खाद और खेती की नई विधियों के प्रयोग द्वारा पूरा कर लिया गया है। क्योंकि इन नये उद्योगों का मूल देहात में है, इसलिए शहरों में काम करने के लिए लाखों किसानों को अपने घरों से उखाड़ने से जो सामाजिक परेशानी होती और जिसके बारे में गांधी जी को इतनी अधिक चिन्ता थी, वह बहुत बड़ी सीमा तक टल गई है।

जापान की ग्रामीण क्रान्ति विस्मयजनक और शिक्षाप्रद अवश्य है, परन्तु यह मान लेना गलत होगा कि अन्यत्र कहीं इसका सरलतापूर्वक अनुकरण किया जा सकता है। जापानी किसानों को पहले से ही खेती की उन्नत तकनीकों का अच्छा ज्ञान था। उनमें से हज़ारों को रासायनिक खादों और सिंचाई के उपयोग का पता था और उन्हें अपने विनियोग और उत्पादन को बढ़ाने के लिए केवल उस सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रोत्साहन की आवश्यकता थी, जो उन्हें अपनी भूमि के स्वामित्व द्वारा प्राप्त हो गया।

इसके अलावा वे साक्षर थे; और सम्भवतः यह मेईजी सम्राटों की एक अकेली सबसे बड़ी देन थी। १९४६ के महान् सुधार में जिन लोगों को भूमि प्राप्त हुई थी, उनमें से हर दस में से नौ किसान उस कानून को स्वयं पढ़ सकते थे, जिसके द्वारा वह भूमि उन्हें मिली थी। क्योंकि हर किसी को अपने नये कानूनी अधिकारों का पता था, इसलिए यह सुधार बहुत तेजी से, और पूरी तरह किया जा सका।

एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के अनेक नेता, जो किसी भी प्रभावी भूमि सम्बन्धी सुधार के विषय में बहुत निराशावादी हैं, इस बात पर भी ज़ोर देते हैं कि जापानी भूमि-सुधार को संयुक्त राज्य अमरीका की सैनिक सरकार का, जिसके हाथ में वहां सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति थी, जोरदार समर्थन प्राप्त था। वे हमें यह याद दिलाते है कि हमारे आधुनिक युग में केवल दो प्रजातन्त्रीय देश प्रजातन्त्रीय संसदों के वोट द्वारा खेती की भूमि का सब किसानों में व्यापक रूप से वितरण कर पाने में समर्थ हुए हैं; और वे देश हैं चैकोस्लोवाकिया, जिसने सन् १९२६ में ऐसा किया था और मैक्सिको, जहां १९३५ के आस पास इस प्रकार भूमि का वितरण किया गया था।

यद्यपि यह परम्परागत ग्रामीण समाज के ढांचे की राजनीतिक शक्ति का और कृषिप्रधान देशों में जमींदारों द्वारा किये जाने वाले विरोध का एक आंखें खोल देने वाला प्रमाण है, परन्तु इसका यह अर्थ

नहीं कि वे सक्षम प्रजातन्त्रीय सरकारें, जो सचमुच ही अपने देश के लोगों के कल्याण के लिए कृतसंकल्प हैं, इन अत्यावश्यक सुधारों के लिए आवश्यक राजनीतिक समर्थन प्राप्त नहीं कर सकतीं।

५

मैंने इस अध्याय का आरम्भ एक ऐसे सिद्धान्त से किया था, जिसमें मेरा गहरा विश्वास है; वह सिद्धान्त है–सफल ग्राम विकास केवल लोगों की ऊर्जाओं को उन्मुक्त करने के द्वारा ही किया जा सकता है। जापानी अनुभव को दृष्टि में रखते हुए अब हमें यह विचार कर लेना चाहिए कि इस सिद्धान्त को भारत में किस प्रकार लागू किया जा सकता है।

विशेष रूप से भारत के विकास के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए मैं एक दुर्गम क्षेत्र में चलने लगा हूं। यह विषय अपने आप में बहुत जटिल है और इसकी अनेक विभिन्न रूपों में व्याख्याएं की जा सकती हैं; और एक विदेशी के रूप में मुझे बोलते हुए अवश्य ही कुछ संकोच हो रहा है। परन्तु इस तथ्य के कारण, कि मुझे एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका में ग्राम विकास को अनेक वर्षों तक देखने का, और विशेष रूप से भारतीय अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन करने का अवसर मिला है, मुझे अपने विचार प्रस्तुत करने का साहस होता है।

यद्यपि भारत के ग्रामीण क्षेत्रों की समस्याएं अब भी बहुत चिन्तनीय हैं, फिर भी उनको हल करने के लिए काफी महत्वपूर्ण आरंभ किया जा चुका है। सामुदायिक विकास का कार्यक्रम, १९५२ में एक सामान्य से प्रयत्न के रूप में इस उद्देश्य से शुरू किया गया था कि वह ग्रामीणों को एक ऐसी रीति से अपने पैरों पर खड़ा कर सके, जिससे उनकी ऊर्जाएं उन्मुक्त हो जायें, जिससे वे अपने विकास में स्वयं सक्रिय सहयोगी बन सकें, और जो उन्हें यह समझा सके

कि उनकी सरकार को उनके भविष्य का यथेष्ट ध्यान है ।

स्थानीय सहयोग और अपनी सहायता आप करने की एक धारणा को हाल ही में पंचायत राज की स्थापना से महत्वपूर्ण प्रोत्साहन मिला है; इस पंचायत राज का प्रयोजन, जैसा कि प्रधान मन्त्री ने ज़ोर देकर कहा है, "हमारे करोड़ों लोगों को जिम्मेदारी में हिस्सा बटाने का, अच्छा काम करने का, और इस प्रक्रिया में से गुजरते हुए उन्नति करने का अवसर देना है ।"

जैसा कि हम देख चुके हैं, किसी विकासोन्मुख देश में इस ज़िम्मेदारी की भावना के उत्पन्न करने से बढ़कर महत्वपूर्ण वस्तु और कोई हो नहीं सकती । यदि पंचायती राज का संगठन ठीक ढंग से किया जाये और उसे ज़ोरदार समर्थन मिले, तो मेरा विश्वास है कि यह भारत में ग्राम विकास में बहुत महत्वपूर्ण योग दे सकेगा ।

मूल सामुदायिक कार्यक्रम का एक और महत्वपूर्ण उद्देश्य यह था कि कृषि उत्पादन पर विशेष ज़ोर देने के साथ-साथ शिक्षा, स्वास्थ्य और स्वच्छता की सुविधाओं और सड़कों तथा संचार-साधनों में सुधार द्वारा सर्वांगीण उन्नति की जाये ।

यह अनुभव किया गया था कि इस प्रकार का एक परस्पराश्रित कार्यक्रम ग्रामवासियों को उनके अपने महत्व की एक अनुभूति करा सकेगा और इस प्रकार जो जीवन-मूल्य पनपेंगे, वे उसे अपने दैनिक जीवन के प्रत्येक पहलू में सुधार के वास्ते कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करेंगे । इन नये जीवन-मूल्यों से यह आशा की जाती थी कि वे भूमिसुधार, बढ़िया बीजों और सुधरी हुई तकनीकों की सहायता से किसान के कृषि-उत्पादन को भी बढ़ा सकेंगे ।

परन्तु बजट की कमी के कारण, इस दृष्टिकोण के नयेपन के कारण, उन रुकावटों के कारण जो यथापूर्व स्थिति के रूढ़िग्रस्त संरक्षक लोग सदा ही परिवर्तन के मार्ग में खड़ी किया करते है, और ५ लाख गांवों में इतने जटिल प्रयत्न को संगठित करने के प्रशासनिक कार्य की

दुष्करता के कारण इस दिशा में अब तक जो प्रगति हुई है, वह इस कार्यक्रम के अत्यधिक आशावादी स्तरों तक नहीं पहुंच सकी।

इन परिस्थितियों में यह आश्चर्यजनक नहीं कि उन लोगों के, जिन्हें 'समुदाय को प्राथमिकता देने वाले' कहा जा सकता है, जो समूचे ग्रामीण समाज के सन्तुलित विकास में विश्वास रखते हैं और 'कृषि को प्राथमिकता देने वाले' लोगों के, जो मुख्यतया कृषि उत्पादन को बढ़ाने की बात सोचते हैं, मध्य एक वाद-विवाद उठ खड़ा हो।

मेरी सम्मति में इस तर्क में उनका पक्ष प्रबल है, जो मिले-जुले विकास के पक्ष में हैं। प्रत्येक विकासोन्मुख देश के अनुभव से यह स्पष्ट हो गया है कि कृषि के उत्पादन की लगातार वृद्धि सामाजिक और राजनीतिक शून्य में हो ही नहीं सकती। उत्पादन की यह वृद्धि एक ही समय में किसान के जीवन में एक सर्वांगीण उन्नति का परिणाम भी होती है और साथ-ही-साथ कारण भी।

इस सम्बन्ध में हमें अब उस प्रश्न पर विचार कर लेना चाहिए, जो स्पष्टतः सबसे अधिक उग्र है—वह है भूमि-सुधार। कांग्रेस पार्टी सामुदायिक विकास के लिए एक आधार के रूप में भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व के महत्व के सम्बन्ध में शुरू से ही सचेत रही है। १९३५ में इलाहाबाद में कांग्रेस पार्टी द्वारा स्वीकार किये गये एक प्रस्ताव में यह ठीक ही कहा गया था कि "ग्राम जीवन को सुधारने का एक ही आधारभूत तरीका है और वह है किसान के स्वामित्व की एक ऐसी प्रणाली का शुरू किया जाना, जिसमें भूमि को जोतनेवाला किसान स्वयं ही उसका मालिक हो और किसी जमींदार या ताल्लुकेदार के बीच में पड़े बिना वह सीधा ही सरकार को मालगुजारी देता हो।"

स्वाधीनता के बाद के शुरू-शुरू के वर्षों में इस लक्ष्य की ओर काफी प्रगति हुई थी। उन जमींदारों को, जिनमें से कुछ हजारों एकड़ भूमि को संभाले हुए थे, उखाड़ फेंका गया। कई राज्यों में भूमि की जोतों की अधिकतम सीमाएं नियत कर दी गईं और इसके अलावा भूमि के

लगान की भी अधिकतम सीमाएं नियत कर दी गईं और पट्टे पर ली गई भूमि पर लगानदारी का हक काफी कुछ अधिक पक्का कर दिया गया।

परन्तु इस काम का सबसे कठिन अंश अभी पूरा होना बाकी है। जमींदार लोग बहुत थोड़े अल्पमत में थे और इस तथ्य के कारण, कि उनकी विशेषाधिकारयुक्त स्थिति विदेशी शासन द्वारा बनाई गई थी, वे आसानी से राजनीति के शिकार बन सके। परन्तु उनके इस मैदान से हट जाने के बाद, और बड़ी-बड़ी भूमि की जोतों पर कुछ अतिरिक्त रोकें लगा दिये जाने के बाद अब भी भारत की ५० प्रतिशत से अधिक भूमि भारत के केवल १० प्रतिशत किसानों के हाथ में है और उनमें से एक प्रतिशत ऐसे है, जो भारत की कुल भूमि के लगभग एक पंचमांश के मालिक हैं।

इस बिन्दु पर पहुंच कर भारत के ग्राम विकास के सम्बन्ध में चल रहा वाद-विवाद एक नया रूप धारण कर लेता है। कुछ प्रामाणिक कृषि-सम्बन्धी विचारक भूमि के स्वामित्व की वर्तमान व्यवस्था को काफी कुछ सन्तोषजनक मानते हैं और वे यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि भूमि के पुनः वितरण की प्रक्रिया काफी दूर तक जा चुकी है। उनका है कि कुल मिलाकर देखा जाये, तो अपेक्षाकृत बड़ा भूस्वामी—वह व्यक्ति, जो अब भी पचास से लेकर ढाई सौ तक एकड़ भूमि को संभालता है—ऐसा व्यक्ति है, जिसे शिक्षा, निपुणताएं और व्यक्तिगत पहल की शक्ति प्राप्त है, जिसके कारण वह नई तकनीकों को समझ सकता है और अपना सकता है और तेज़ी से अपने उत्पादन को बढ़ा सकता है।

इस सिद्धांत के समर्थकों के कथनानुसार इस समय महत्वपूर्ण कार्य यह है कि प्रत्येक गांव में किसी एक ऐसे किसान को चुन लिया जाये, जिसमें कि ये आवश्यक गुण हों और फिर उसे खेती की आधुनिक तकनीकों का प्रशिक्षण दिया जाये। तब उससे यह आशा की जा सकती है कि वह अपने उत्कृष्ट ज्ञान को तेज़ी से अपने पड़ोसियों तक पहुंचा

सकेगा और इसके द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए बहुत अधिक कृषि-उत्पादन का द्वार खोल सकेगा। यद्यपि पहली दृष्टि में ग्राम-सुधार की यह नीचे की ओर रिसने की धारणा आकर्षक प्रतीत हो सकती है, फिर भी मेरा कथन यह है कि इसमें ग्राम-विकास के आधारभूत सिद्धान्तों की उपेक्षा कर दी गई है। मेरे इन सन्देहों के कारण मेरे उस एक वार्तालाप से भली भांति स्पष्ट हो जायेंगे, जो हाल ही में दक्षिण भारत के एक गांव में ठीक इसी प्रकार के 'एक द्वार खोलने वाले' व्यक्ति के साथ हुआ था।

यह किसान प्रति एकड़ उपज की उस वृद्धि से अत्यन्त प्रसन्न था, जो वह ग्रामसेवक द्वारा बतलाई गई तकनीकों की सहायता से कर पाने में समर्थ हुआ था। परन्तु ज्यों-ज्यों वार्तालाप आगे बढ़ा त्यों-त्यों यह स्पष्ट होता गया कि इस बात की सम्भावना नहीं के बराबर है कि उसकी व्यक्तिगत सफलता का उसके साथी ग्रामीणों पर कोई बड़ा प्रभाव पड़ सकेगा।

जब मैंने उससे पूछा कि उसके पास कितने एकड़ भूमि है और वह उस पर किस प्रकार खेती करता है, तो उसने मुझे बताया कि वह १५० एकड़ भूमि को संभाल रहा है और यह कि उसकी जमीन पर पट्टेदार किसान खेती नहीं करते, अपितु वह 'नौकरों' से खेती करवाता है। क्योंकि उस गांव में केवल ३७ परिवार रहते थे, इसलिए मैं यह नहीं समझ पाया कि उनमें से कितने परिवार उसके 'नौकरों' के रूप में काम करते थे और कितने परिवार ऐसे थे, जिनके पास अपनी जमीनें थीं।

मैं यह भी नहीं समझ पाया कि इस व्यक्ति की बढ़ी हुई उपज से अन्य ग्रामीणों को कितना लाभ हो रहा है, और वे पहले की अपेक्षा अब कितना सामान अधिक खरीदने और इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था में योग दे पाने में समर्थ हुए हैं, और उन्हें अतिरिक्त समय में काम करने के लिए कितना अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है, जो उनके अपने उत्पादन में वृद्धि करने लिए अत्यावश्यक है।

सबसे महत्वपूर्ण बात जो मैं सोचने लगा, वह यह थी कि इस व्यक्ति

के नेतृत्व में रह कर ग्रामीण लोगों में सामान्यतया कितनी सीमा तक आत्मगौरव की भावना का विकास हुआ होगा। जब मैंने आसपास खड़े हुए लोगों की अधीनतायुक्त और निश्चिन्ततारहित मनोवृत्ति को देखा, तो मैं समझ गया कि इस प्रकार का भाव कोई बहुत अधिक विकसित नहीं हो सका होगा।

यद्यपि एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका में अपेक्षाकृत बड़े और प्रायः अधिक उत्पादन करने वाले किसानों को असंदिग्ध रूप से नेताओं और पहल करने वाले लोगों के रूप में कार्य करना है, फिर भी मेरा विश्वास है कि उनके नेतृत्व में रहते हुए जितनी सफलता प्राप्त की जा सकती है उसकी एक बहुत ही पक्की सीमा है। सारे संसार भर में ग्रामीण लोग यह चाहते हैं कि उनकी अपनी ज़मीन हो और उस पर और अच्छी तरह खेती करने के लिए आवश्यक खाद, अच्छे बीज और ऋण उन्हें प्राप्त हो जायें। ग्रामीण प्रजातन्त्र तक पहुंचने के लिए कोई छोटा रास्ता नहीं है, और विकासोन्मुख महाद्वीपों में सुव्यवस्थित राजनीतिक उन्नति का भरोसा केवल इस ग्रामीण प्रजातन्त्र द्वारा ही हो सकता है।

६

फिर भी, भूमि के वैयक्तिक स्वामित्व का हक चाहे उतना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो, जितना कि मैं उसे मानता हूं, फिर भी वह इस समस्या का केवल एक पहलू है। यद्यपि इसके कारण जापान में ग्रामीण समृद्धि को प्रचुर प्रोत्साहन मिला था, फिर भी जैसा कि हम देख चुके हैं, वह वहां विशेष रूप से इसलिए कारगर सिद्ध हुआ, क्योंकि वहां शिक्षा, आधुनिक तकनीकें, रासायनिक खाद तथा ऋण और माल को बाजार में भेजने की सुविधाएं प्राप्त थीं, जिनसे किसान की इस नई पहल शक्ति को अक्षरशः फल देने की सुविधा और प्रोत्साहन मिल

सका। मैक्सिको में, जहां इन अतिरिक्त विशिष्टताओं का अभाव था, १९३०-४० में घोर युद्ध के वर्षों के पश्चात् हुए व्यापक भूमि-सुधारों का परिणाम यह हुआ कि उत्पादन घट गया और किसानों में निराशा बढ़ गई।

पिछले कुछ वर्षों में भारत ने रासायनिक खादों, बीजों के सुधार, पशुओं की नस्ल सुधारने और विनाशकारी कीड़ों की रोकथाम के परीक्षणों के सम्बन्ध में प्रभावोत्पादक प्रगति की है। जब मैं भारत के ग्रामीण संस्थापनों को देखता हूं और भारत के कृषि वैज्ञानिकों से बातचीत करता हूं, तो मैं उन सुदृढ़ आधारशिलाओं से बहुत प्रभावित होता हूं, जो भारत में कृषि-सम्बन्धी अनुसन्धान के लिए पहले से ही विद्यमान थीं।

इस कृषि-अनुसन्धान के फल किसानों तक, एक बड़े पैमाने पर ग्राम सेवक की मार्फत, जो किसान पढ़ना जानते हैं उनके लिए छपी हुई सामग्री द्वारा और जो पढ़ नहीं सकते, उनके लिए छोटी फिल्मों, रेडियो और संभवतः गांवों में होने वाले कठपुतली के नाचों द्वारा भी पहुंचाये जा सकते हैं।

इस प्रकार की जानकारी रासायनिक खादों और बीजों का संभरण करने वाली सार्वजनिक और गैर सरकारी व्यापार संस्थाओं के विक्री कार्यक्रमों तथा प्रदर्शनों द्वारा भी वितरित की जा सकती है। संयुक्त राज्य अमरीका में ये संस्थाएं उन्नत तकनीकों को किसानों तक पहुंचाने का सबसे प्रभावी माध्यम रही हैं।

भारतीय किसान को ऋण प्राप्त करने की भी सुविधाएं प्राप्त होनी चाहिएं, जो उन्नत तकनीकों से लाभ उठा पाने के लिए आवश्यक हैं। यह सुनिश्चित करने के लिए कि उसे अपनी विक्रय योग्य उपज का यथोचित प्रतिफल प्राप्त हो जायेगा, इस बात की आवश्यकता है कि माल बेचने के यन्त्रजात को और अधिक कार्यक्षम बनाया जाये। इससे ऐसी विपणन (उपज को बाजार में बेचने वाली) सहकारी समितियों

के गठन का सुझाव सामने आता है, जैसा कि जापान में है, जिनके माल खरीदने-बेचने के केन्द्र स्वयं ग्रामीण क्षेत्रों में ही हों और जहां अधिक आसानी से पहुंचा जा सकता हो। अन्तिम बात यह है कि मैं यह मानता हूँ कि अत्यावश्यक फसलों की कीमतों को एक व्यावहारिक सीमा तक नीचे न गिरने देने के सम्बन्ध में विचार किया जाना चाहिए; उन कीमतों की दो या तीन साल की गारंटी दी जानी चाहिए, जिससे किसान लोग एक उचित आय के आश्वासन के आधार पर अपने उत्पादन की योजना बना सकें।

हालांकि, भारत में नागरिक मजदूरों का आधे से अधिक घर-खर्च भोजन का रहता है, फिर भी बाजार में अन्न के लिए ली जाने वाली कीमतों का बहुत ही अपर्याप्त अंश किसान तक पहुंच पाता है। अधिकांश विकासोन्मुख राष्ट्रों की भांति यहां भी बाज़ार कीमत का बहुत बड़ा भाग मध्यवर्ती लोगों और सटोरियों के जाल में खप जाता है। सुसंगिठत और पर्याप्त धन वाली विपणन सहकारी समितियों द्वारा इस स्थिति में धीरे धीरे परिवर्तन किया जा सकता है; वस्तुतः अनुभव ने यह दिखा दिया है कि उपभोक्ताओं से वसूल की जाने वाली खुदरा कीमतों को कम किया जा सकता है और उसके साथ ही किसानों की आय को बढ़ाया जा सकता है।

ग्रामीण आय के एक अनुपूरक स्रोत के रूप में, फालतू कृषि-मजदूरों को रोज़गार देने के रूप में, और खेती की उपज के लिए एक बाज़ार के रूप में स्थानीय उद्योगों को खड़ा करने में जापान को जो सफलता मिली है, उसके अनुभव से भारत भी लाभ उठा सकता है। स्वयं गांधी जी ने भी लघु-उद्योगों की इस आवश्यकता को पहले से ही समझ लिया था और तभी उन्होंने यह कहा था कि खादी स्वदेशी—ग्रामीण क्षेत्रों की आत्म निर्भरता—की 'प्रतिमा' अवश्य है, किन्तु केवल यह एक ही उद्योग ऐसा नहीं है, जो ग्रामीण क्षेत्रों की आवश्यकताओं के उपयुक्त हो।

हाल ही में मैंने बड़ी दिलचस्पी के साथ उन लघु पंचायत-उद्योगों

का हाल पढ़ा है, जिनमें आधुनिक निपुणताओं और उपकरणों का उपयोग किया जा रहा है और जिनका इस समय उड़ीसा में बड़े उत्साह से स्वागत किया जा रहा है। यद्यपि इन उद्योगों के लिए पैसा सरकार ने दिया है, फिर भी उन्हें स्थानीय पंचायतें चलाती हैं। इन विशिष्ट उद्यमों के जो छः अधिकृत उद्देश्य बताये गये हैं, वे इसलिए उद्धरण योग्य हैं, क्योंकि वे उन जापानी ग्रामोद्योगों के कार्य का भी एक संक्षिप्त सार हैं. जो पहले ही इतने उत्पादनशील सिद्ध हो चुके हैं :

"(१) स्थानीय निपुणताओं में सुधार करना और नई निपुणताओं को प्रयोग में लाना;

"(२) व्यावसाविक व्यवस्था को बहुमुखी वनाना और बेरोजगारी तथा अल्प-रोज़गारी को घटाने में सहायता देना;

"(३) अपेक्षाकृत अच्छे मकानों का प्रबन्ध करने के लिए निर्माण सामग्री के सम्बन्ध में उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं को पूरा करना;

"(४) पंचायत खंडों में प्रयोग में आने वाली खेती की मशीनों और औज़ारों के लिए सफाई और मरम्मत की सुविधाएं प्रदान करना;

"(५) उत्पादकों को अधिक नकद प्रतिफल दिलाने के लिए कृषिज उपजों को पण्योपयोगी वनाना; और

"(६) लोगों की कर देने की क्षमता पर वोझ डाले विना पंचायत समितियों के लिए आय के अधिकाधिक वढ़ते हुए स्रोतों की व्यवस्था करना।"

उड़ीसा के इस परीक्षण में चलाये जा रहे लघु उद्योगों में टाइल वनाने के कारखाने, आरा मिलें, एक शीत गोदाम का कारखाना और अन्य कई उद्योग हैं, जिनका ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं से सीधा सम्बन्ध है और जो निपुणताओं के इस समय विद्यमान स्तर के उपयुक्त हैं। यहां हमें गांधी जी का स्वदेशी का आदर्श आधुनिक रूप में दृष्टिगोचर होता है।

उड़ीसा में इन उद्योगों के प्रति ग्राम पंचायतों के उत्साह और जापानी अनुभव से ऐसा लगता है कि इस प्रकार के पंचायती उद्योग सारे भारत में ग्राम-विकास में एक बड़ा योग दे सकते हैं और देंगे।

लैटिन अमरीका में बड़े पैमाने पर माल बेचने के लिए किये गये अमरीकी परीक्षणों की सफलता से भी स्थानीय तथा नागरिक क्षेत्रों में तैयार की गई वस्तुओं को ग्रामीण क्षेत्रों में बेच पाने की सम्भावनाएं स्पष्ट हो जाती हैं। शिकागो के सीयर्स रोवक ने अनेक देशों में स्थानीय आवश्यकताओं, उपलब्ध निपुणताओं और संभाव्य उत्पादन की सुविधाओं का अध्ययन करने के बाद बड़ी-बड़ी स्थानीय दूकानें खोलीं और उनमें स्थानीय रूप से तैयार किये गये सामान को रखना शुरू किया। अभीष्ट कौशल और ऊर्जा वाले कारीगरों को वड़े पैमाने पर उत्पादन करने के सम्बन्ध में सघन तकनीकी प्रशिक्षण दिया गया और आवश्यक उपकरण खरीदने के लिए उन्हें ऋण भी दिये गये।

इसका परिणाम यह हुआ कि वहां सैकड़ों स्थानीय उत्पादक तैयार हो गये और आकर्षक, कम मूल्य वाली उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन तेजी से बढ़ गया; इनमें से कुछ वस्तुओं को तो माल बेचने के मोटर-ठेलों में लाद कर गांवों में बेचने के लिए फेरी की जाती है। मुझे कोई ऐसा कारण दिखाई नहीं पड़ता कि उत्पादक से बाज़ार तक और वहां से उपभोक्ता तक माल को ले जाने के लिए इसी प्रकार की प्रणाली सहकारी और निजी, दोनों ही प्रकार के प्रवन्धों के अधीन सारे भारत में क्यों न स्थापित की जा सके।

एक विशेष रूप से विवादग्रस्त क्षेत्र में प्रवेश करने का जोखिम उठा कर भी मैं यह कहूंगा कि जव तक ग्रामीण मज़दूरों को और अधिक रोजगार देने के लिए यथेष्ट संख्या में स्थानीय उद्योग खड़े नहीं किये जाते, तव तक कृषि का यान्त्रिकीकरण, जिसका मुख्य उद्देश्य श्रम की वचत करना है, अधिकांश क्षेत्रों में मितव्ययपूर्ण सिद्ध नहीं होगा। वैलों की एक अच्छी जोड़ी के लिए न तो कल पुर्जो की आवश्यकता होती है, न

पैट्रोल की; और वह खराब भी बहुत कम अवसरों पर ही होती है; और जैसा कि एक किसान ने मुझे याद दिलाया, वह यथेष्ट मात्रा में खाद भी उत्पन्न करती है।

यद्यपि इस विशिष्ट विषय पर विवाद की गुंजाइश है, फिर भी इस अध्याय के इस केन्द्रीय विचार के सम्बन्ध में असहमति की गुंजाइश बहुत कम है कि आगामी वर्षों में एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के आर्थिक और राजनीतिक इतिहास की रूपरेखा बहुत कुछ उससे तैयार होगी, जो कुछ वहां के उन छोटे-छोटे कीचड़-भरे गाँवों में और देहाती कस्बों में होता है, जिनकी कि अर्थशास्त्री और विकास के शिल्पी लोग प्रायः उपेक्षा कर जाते हैं।

३

सामाजिक न्याय के साथ औद्योगिक विकास

औद्योगिक उन्नति की योजना बनाने और उसे कार्यान्वित करने में विकासोन्मुख देशों के सामने एक दुहरी समस्या रहती है, जिसके दोनों ही पहलू परेशानी में डालने वाले हैं।

इस समस्या का पूर्वार्ध तो यह है कि जो पूंजी, कच्चा माल और निपुणताएं तुरन्त उपलब्ध हैं, उनको किस ढंग से प्रोत्साहित किया जाये कि उनका अच्छे से अच्छा उपयोग हो सके। आवश्यकताएं कौन सी हैं? अग्रताए कौन सी हैं? इस्पात अधिक आवश्यक है कि सीमेंट? रेल की पटरियां बिछाना अधिक आवश्यक है या सड़कें बनाना? मालगाड़ी के डिब्बे तैयार करना अधिक आवश्यक है या मोटर ठेले तैयार करना? और औद्योगिक विकास की चाल क्या रखी जाये? इसका अर्थ व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों के साथ सन्तुलन किस प्रकार किया जाये?

औद्योगिक विकास का दूसरा परेशान करने वाला पहलू उसका व्यक्तियों और संस्थाओं पर पड़ने वाला प्रभाव है। जहां उद्योग को यथासम्भव अधिकतम तेजी से उन्नति करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए, वहां हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि कहीं ऐसा न हो कि इस औद्योगिक उन्नति से जितनी बुराइयां दूर हों, उससे अधिक

और उत्पन्न होने लगें। गांधी जी के शब्दों में "वैज्ञानिक सत्यों और आविष्कारों को लोभ का साधन मात्र न बनाना चाहिए। सबसे अधिक ध्यान मनुष्य का रखा जाना चाहिए।"

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य यूरोप में कार्ल मार्क्स ने आरम्भिक उद्योगीकरण की कठोर प्रक्रिया से प्रभावित होकर आर्थिक विकास और क्रान्तिकारी परिवर्तन का एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया था, जिसने करोड़ों लोगों के विचारों पर बहुत गहरा प्रभाव डाला।

मार्क्स की विचारधारा मुख्यतया इसलिए ज़ोरदार रही, क्योंकि वह उसके आसपास के जीवन के सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित थी; वह विचारधारा सीमित इसलिए थी, क्योंकि मार्क्स ने केवल उन्ही तथ्यों को देखा, जिन्हें समय, स्थान और अपने रुझान के कारण वह देख पाने में समर्थ हुआ।

जो कुछ मार्क्स ने देखा, वे औद्योगिक क्रान्ति के बिल्कुल शुरूशुरू के वर्षों के दैनन्दिन जीवन की कठोर वास्तविकताएं थीं। उसने लन्दन की गन्दी बस्तियों में मजदूरों को छोटे-छोटे कमरों में बहुत ही भीड़-भाड़ में रहते और एक निरन्तर फैलती हुई अर्थ-व्यवस्था की तीव्र मांगों को पूरा करने के लिए जी तोड़कर काम करते देखा था। उसने यह भी देखा था कि वे अलग-अलग व्यक्तियों के रूप में उन लोगों की शक्ति के सामने असहाय थे, जो उन कारखानों के मालिक थे, जिनमें वे मजदूर काम करते थे और जिनका उस सरकार पर नियंत्रण था, जिसके अधीन वे रहते थे।

मार्क्स ने औद्योगिक क्रान्ति की आरम्भिक दशाब्दियों की सामाजिक बुराइयों और मनुष्य के प्रति मनुष्य के अन्याय का अतिरंजित वर्णन नहीं किया। जो कुछ उसने किया, वह यह था कि उसने उन दशाओं को बदलने के और सामाजिक दृष्टि से एक ऐसे उत्तदायी ढांचे की स्थापना करने के सम्बन्ध में, जिसमें कि विकास तेजी से हो सके, प्रजातन्त्रात्मक समाजों की लोच और क्षमता का बहुत ही न्यून अनुमान किया।

मेरे अपने देश में हम अपने गणतन्त्र के बिल्कुल आरम्भिक काल से ही एक ओर तो इस आर्थिक और सामाजिक न्याय और दूसरी ओर द्रुत आर्थिक उन्नति के बीच इस सन्तुलन को स्थापित करने और बनाये रखने का प्रयत्न कर रहे हैं। अनिवार्यतः इसका परिणाम यह हुआ है कि जो लोग सम्पत्ति के संचय को अपने आप में एक साध्य वस्तु समझते हैं, उनके और उन लोगों के मध्य, जो इस आर्थिक प्रक्रिया को एक ऐसा साधन मात्र समझते हैं, जिसके द्वारा व्यक्ति को उन्नति के अवसर, आत्मगौरव और न्याय के वातावरण में मुक्त किया जा सकता है, एक अविराम संघर्ष चल रहा है।

वे ही अमरीकी राष्ट्रपति सर्वाधिक सम्मानित हुए हैं, जिन्होंने उन लोगों के विरुद्ध जनता के हितों का प्रभावी रीति से समर्थन किया है, जिन्हें थियोडोर रूज़वेल्ट ने एक बार 'महान सम्पत्ति के पातकी' कहा था। इनकी सूची में जैफर्सन, जैक्सन, लिंकन, क्लीवलैंड, थियोडोर रूज़वेल्ट, विल्सन, फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट, ट्रूमैन और जॉन एफ. केनेडी के नाम सम्मिलित हैं।

न केवल अमरीका में, अपितु जापान, ब्रिटेन, स्वीडन, जर्मनी और अन्य आर्थिक दृष्टि से उन्नत प्रजातन्त्रीय देशों में मार्क्स की यह धारणा कि "शोषकों और जनसाधारण" के मध्य एक घोर वर्ग-संघर्ष होना अवश्यंभावी है, भ्रान्त सिद्ध हुई है। अनुभव ने यह दिखा दिया है कि वस्तुतः मनुष्य उन यन्त्रों के स्वामी बन सकते हैं, जिनको कि उन्होंने रचा है, और यह कि वे भौतिक समृद्धि के साथ स्वतन्त्रता में भी जीवन यापन कर सकते हैं।

एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के विकासोन्मुख देशों में इस सन्तुलन की आवश्यकता अब व्यापक रूप से स्वीकार की जाने लगी है। कठिनाइयां तब उपस्थित होती हैं जब सामाजिक न्याय और औद्योगिक उन्नति की धारणाओं का सम्बन्ध साधनों और तकनीकों से जोड़ दिया जाता है।

इसका परिणाम बहुधा यह होता है कि आर्थिक और राजनीतिक घिसी-पिटी उक्तियों का एक ऐसा निष्फल विवाद छिड़ जाता है, जो सार्वजनिक चर्चा को ऐसी दिशाओं में मोड़ देता है, जिनकी कि इस प्रस्तुत प्रश्न से कोई संगति ही नहीं होती। इसीलिए मैंने पहले ही अपने विचार क्षेत्र की स्पष्ट परिभाषा कर लेने का यत्न किया था।

१

इस स्थापना को स्वीकार कर लेने के बाद, कि द्रुत उद्योगीकरण को चाहे वह कितना ही आवश्यक क्यों न हो, सार्वजनिक हित को क्षति पहुंचा कर बढ़ने नहीं दिया जा सकता, अब हमें उन साधनों के बिल्कुल व्यावहारिक विचार की ओर ध्यान देना चाहिए, जिनके द्वारा औद्योगिक उत्पादन को अधिक से अधिक तेजी से और प्रभावपूर्ण ढंग से इस नैतिक ढांचे के अन्दर रहते हुए बढ़ाया जा सकता है।

विकास का अन्ततोगत्वा अर्थ लोगों की दशा को सुधारना है, न कि आंकड़ों का ढेर लगाना। हम उन वस्तुओं को चाहते हैं, जो उद्योग हमें दे सकता है। यह सोचना हमारा काम है कि एक स्वतन्त्र और न्याय्य समाज में हम उन्हें किस प्रकार एक ऐसे ढंग से प्राप्त करें, जिससे विस्तृततम अर्थों में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया और आगे बढ़े।

हम इस एक सुस्पष्ट तथ्य से शुरू कर सकते हैं: किसी भी विकासोन्मुख राष्ट्र में सरकार को एक केन्द्रीय और मार्मिक महत्व का पार्ट अदा करना होगा। उन अनेक आधारभूत उपकरणों की व्यवस्था, जो वस्तुओं को गति देने के लिए—और ठीक दिशा में गति देने के लिए अपेक्षित हैं, केवल सरकारी योजना, सरकारी पूंजी और सरकारी देख रेख में ही की जा सकती है। उदाहरण के लिए, तथाकथित अवोरचना (इन्फ्रास्ट्रक्चर)—सड़कें, रेल परिवहन, विद्यालय, विद्युत् शक्ति, संचार सावनों का जाल—काफी हद तक सरकार की जिम्मेदारी है।

संयुक्त राज्य अमरीका तक में, जहां गैर सरकारी उद्यम ने इस प्रकार का केन्द्रीय पार्ट अदा किया है, सरकार को बहुधा इस जिम्मेदारी का बहुत बड़ा हिस्सा अपने सिर ले लेने के लिए विवश होना पड़ा है।

अठारहवीं शताब्दी के पिछले भाग में, अमरीकी गणतन्त्र के बनने के कुछ ही समय बाद हमारे उस व्यापारिक समुद्री बेड़े को बनाने के लिए, जिसका स्वामित्व और प्रबन्ध गैर सरकारी संस्थाओं के हाथ में था, संघ सरकार की ओर से राज सहायता दी गई थी। १८३०-४० में ईरी नहर का, जो अमरीका के पूर्वी समुद्र तट और तेजी से विकसित होते हुए नये पश्चिमी तट के मध्य परिवहन की सबसे पहली प्रभावी कड़ी थी, निर्माण सार्वजनिक निधियों द्वारा किया गया था, उनमें से अधिकांश इंग्लैंड में उधार ली गई थीं।

इसके तीस वर्ष बाद उन रेल मार्गों को, जिनका स्वामित्व और प्रबन्ध गैर सरकारी हाथों में था, संघ सरकार की ओर से बहुत बड़ी मात्रा में सार्वजनिक भूमि दी गई थी, जिससे वे रेल मार्गों के उस अभूतपूर्व निर्माण-कार्यक्रम के लिए धन जुटा सकें, जिसका जाल शीघ्र ही सारे अमरीका महाद्वीप पर बिछ गया था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के छिड़ जाने के बाद संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने संकटकालीन आधार पर कार्य करते हुए आयोजना का और अर्थ व्यवस्था के अधिकांश नियन्त्रण का काम अपने हाथ में ले लिया। शान्ति काल में भी संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार रेल मार्गों, नौवहन, वायु परिवहन की कम्पनियों, सार्वजनिक आवास, सब स्तरों की शिक्षा, अधिकांश वैज्ञानिक विकास, हमारी कृषि के उत्पादन के एक बहुत बड़े भाग, अनेक विद्युत शक्ति उत्पन्न करने वाले कारखानों और और अन्य उद्यमों को राज सहायता देता है।

एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के नये राष्ट्रों के सामने इस नवयुग के प्रभात में एक अविराम संकटकालीन दशा विद्यमान है। उनकी गरीबी से दबी हुई जनता, जो नई तकनीकों द्वारा बंधाई

गई आशाओं से सजग हो उठीं है, अन्य देशों की बराबरी तक पहुंचने के लिए अधीर है और जल्दबाज़ी मचा रही है। ऐसी परिस्थितियों में सरकारी योजना निर्माण, विनियोग और प्रबन्ध को अनिवार्यतः उससे कहीं अधिक बड़ा पार्ट अदा करना होगा, जितना संयुक्त राज्य अमरीका में करना पड़ता था, जहां उन्नति की आधारशिलाएं मुख्यतया अतीत के अपेक्षाकृत शान्त वातावरण में तैयार कर ली गई थीं।

फिर भी गत १५ वर्षों के अनुभव ने यह स्पष्ट कर दिया है कि किसी भी विकासोन्मुख राष्ट्र में औद्योगिक भार के उस अंग की कुछ व्यावहारिक सीमाएं हैं, जिन्हें सरकार सुचारु रूप से वहन कर सकती है।

उदाहरण के लिए, एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के नये उठते हुए देशों में प्रशासनिक अनुभव, शिक्षा, विद्युत् शक्ति, और परिवहन जैसी आधारभूत आवश्यकताओं तक के लिए बहुत कम ही जगह यथेष्ट है। करारोपण द्वारा या न्यून विशेषाधिकार वाले बहुमत से सरकारी ऋण लेकर पूंजी की जो मात्रा प्राप्त हो सकती है, वह बहुत सीमित है, और अच्छा खाता-पीता अल्पमत बहुत ही थोड़ा है। अनेक मामलों में औपनिवेशिक प्रशासन सेवा की बची आ रही परम्पराएं लोगों को पनपने और उन्नति करने का सुअवसर देने के बजाय उनके नियन्त्रण पर अधिक ज़ोर देती हैं।

सरकारी उद्यमों के प्रत्यक्ष प्रबन्ध के सम्बन्ध में प्रजातन्त्र-अभिमुख सरकारों के सामने एक और कठिनाई है: प्रत्येक औद्योगिक कार्य में उन्नति उन हज़ारों छोटे-बड़े दैनन्दिन निश्चयों पर आधारित होती है, जिनमें से अनेक के लिए 'परीक्षण और भूल सुधार' की पद्धति को अपनाना अभीष्ट होता है। ऐसा कोई भी उद्योग-प्रबन्धक, जो गलतियों का जोखम उठाने को उद्यत नहीं है, लगभग निश्चित रूप से एक सुचारु और फैलते हुए कार्य को खड़ा कर पाने में असफल रहेगा।

यहां पहुंच कर हम एक विरोधाभास में फंस जाते हैं। एक पूर्णतया पुलिस राज्य में जोखिम उठाने की प्रक्रिया प्रतिपक्षी दल के आक्रमणों

की वाधा के बिना चलती रह सकती है। किसी प्रजातन्त्रीय राष्ट्र में गैर सरकारी उद्यमों के प्रवन्धक भी परीक्षण द्वारा अपनी समस्याओं का हल ढूंढने के लिए राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होते हैं और उन्हें इस वात की चिन्ता नहीं होती कि नुक़ताचीनी करने वाले लोग क्या कहेंगे। जव अपरिहार्य गलतियां हो जाती हैं, तव उन्हें अन्यत्र चल रहे अधिक लाभदायक कार्यों के मुकाबले में बट्टेखाते डाल दिया जाता है।

परन्तु जव किसी प्रजातन्त्रीय समाज के सार्वजनिक क्षेत्र के कारखानों में ऐसी गलतियां हो जायें, तव राजनीतिक प्रतिपक्ष से यह आशा की जा सकती है कि वह सत्तारूढ़ दल पर अक्षमता और भ्रष्टाचार के, तथा इससे भी वुरे-वुरे आरोप लगायेगा। इन आक्षेपों से वह प्रशासनिक प्रक्रिया निर्वल हो जाती है, जिस पर और आगे प्रगति निर्भर रहती है। वे सरकारी कर्मचारी, जो वास्तविक या तथाकथित गलतियों के लिए राजनीतिक भर्त्सना से वचने के लिए चिन्तित रहते हैं, पक्की निष्क्रियता की वृत्ति अपना लेते हैं। दफ्तरशाही की निर्णय करने की पहले से ही मन्द प्रक्रिया और भी मन्द हो जाती है और सोत्साह परीक्षणों के लिए जोश समाप्त हो जाता है, जबकि इस प्रकार के परीक्षण औद्योगिक विस्तार के लिए अत्यावश्यक हैं।

कुछ वर्ष पहले संयुक्त राज्य अमरीका में फोर्ड मोटर कम्पनी ने एक नई मोटरकार तैयार करने में कोई तीस करोड़ डालर लगाये, जिसका कि नाम 'ऐडसल' रखा गया। वाद में, यह कार ऐसी निकली कि उसे वहुत कम लोगों ने खरीदना पसन्द किया। उस कम्पनी ने ऐडसल पर हुए अपने घाटे का सन्तुलन अन्यत्र अपेक्षाकृत अधिक लाभदायक विनियोगों से कर लिया और किस्सा यहीं खत्म हो गया।

मैं उस राजनीतिक गुल-गपाड़े की कल्पना करके भी सिहर उठता हूँ, जो उस समय हुआ होता, जवकि उस अभागी ऐडसल कार को डेमोक्रेटिक या रिपव्लिकन प्रशासन के अधीन किसी सरकारी अभिकरण ने वनाया होता। सत्तारूढ़ दल अगले चुनाव में शायद हार ही जाता।

क्योंकि एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के विकासोन्मुख राष्ट्रों की दशाओं में परस्पर बहुत अधिक अन्तर है, इसलिए इस विषय में कोई पक्का गुर नहीं हो सकता कि सार्वजनिक क्षेत्रों का आकार कितना और कार्यक्षेत्र कौनसा होना चाहिए। परन्तु क्योंकि इन देशों की सरकारों के सामने बहुत बड़ी-बड़ी समस्याएं विद्यमान हैं, इसलिए अधिकाधिक देशों में अब सार्वजनिक क्षेत्र में केवल उन्हीं अत्यावश्यक उद्यमों को रखा जाता है, जिनके लिए धन अन्य साधनों द्वारा नहीं जुटाया जा सकता।

२

जब कोई विकासोन्मुख राष्ट्र एक बार अपने सार्वजनिक क्षेत्र के कार्यक्षेत्र और जिम्मेदारियों की एक सामान्य रूपरेखा बना लेता है, तब उसके सामने एक दूसरा निश्चय करने की समस्या होती है : सार्वजनिक निधियों से चलाये जा रहे इन उद्यमों का प्रबन्ध सर्वोत्तम रीति से किस प्रकार किया जाये।

पहला कदम साधारणतया विल्कुल स्पष्ट होता है : सार्वजनिक स्वामित्व वाले उद्योगों के प्रबन्ध की जिम्मेदारियां सीधे तौर पर उनसे सम्वन्धित मन्त्रालयों को सौंप दी जायें; इस प्रकार इस्पात की मिलें 'भारी उद्योग मन्त्रालय' के अधीन कर दी जाती हैं, विजलीघर 'विजली मन्त्रालयों' को सौंप दिये जाते हैं और इसी प्रकार अन्य उद्योग भी सम्वन्धित मन्त्रालयों को दे दिये जाते हैं। कुल मिला कर इसका अर्थ यह होता है कि पहले से ही अधिक भार से दवे हुए और न्यून कर्मचारियों वाले मन्त्रालयों से कहा जाता है कि वे ऐसे नये क्षेत्रों में अत्यन्त विशेषीकृत और जटिल कार्यसंचालन की जिम्मेदारी अपने सिर ले लें, जिनमें कदम-कदम पर आक्षेप किये जा सकते हैं, जो वहुधा उत्तरदायित्व से शून्य और गलत जानकारी पर आधारित होते हैं।

दूसरे सोपान का विकास तब होता है, जब सार्वजनिक क्षेत्र के कारखानों के प्रबन्ध के लिए सीधे मन्त्रालय की प्रशासन सेवा की जिम्मेदारी के विषय में राजनीतिक और आर्थिक परिसीमाएं स्पष्ट हो जाती हैं। तब एक ऐसी प्रणाली की खोज शुरू होती है, जिसमें निर्णय जल्दी किये जा सकें, परीक्षणों को प्रोत्साहन मिल सके और अन्य तरह से भी अधिक कार्यक्षमता का निश्चय रहे।

यद्यपि साम्यवादी राष्ट्रों में राजनीतिक प्रतिपक्ष और पत्र-पत्रिकाओं द्वारा की जाने वाली आलोचना एक बहुत ही नगण्य तत्व है, फिर भी इस बात की ओर ध्यान देना शिक्षाप्रद होगा कि वे राष्ट्र भी अब अधिकाधिक जिम्मेदारी प्रबन्धकों को सौंप रहे हैं और प्रबन्धकों की पहल शक्ति को अधिकाधिक प्रोत्साहन दे रहे हैं।

उदाहरण के लिए, सोवियत रूस ने औद्योगिक उत्पादन को तेजी से से बढ़ाने के लिए एकीकृत आर्थिक ज़िलों की प्रणाली निकाली है; इन ज़िलों को मास्को की केन्द्रीय सरकार ने काफी अधिकार दे दिये हैं। अब किसी भी एक ज़िले में स्थित प्रत्येक कारखाना उसी ज़िले के किसी भी अन्य उद्यम से सीधा माल मंगा सकता है, या उसे सीधा माल बेच सकता है। प्रत्येक कारखाने के प्रबन्धक को अपने कारखाने को चलाने के सम्बन्ध में, जिसमें कर्मचारियों के ऊपर यथेष्ट नियन्त्रण भी सम्मिलित है, काफी बड़ी मात्रा में स्वायत्तता दे दी गई है।

अब सोवियत प्रबन्धकों और उनके अधीनस्थ लोगों की योग्यता का निर्णय अधिकाधिक उनके कुल परिणामों से किया जाने लगा है और उन गलतियों की ओर कम ध्यान दिया जाता है, जो उस प्रक्रिया में उनसे हो सकती हैं। यह तथ्य विशेष महत्व का है कि उनको वेतन भी उनकी सफलता के अनुसार दिया जाता है। कुछ अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि कर दे देने के बाद सबसे अधिक और सबसे कम आयों में अन्तर अब संयुक्त राज्य अमरीका की अपेक्षा रूस में अधिक है।

सार्वजनिक क्षेत्र के औद्योगिक कारखानों को चलाने की जिम्मेदारी

पेशेवर प्रबन्धकों को सौंपने में यूगोस्लाविया एक कदम और आगे बढ़ गया है। बैल्ग्रेड में स्थित केन्द्रीय मन्त्रालय अब मुख्यतया समूची अर्थ-व्यवस्था के लिए योजना बनाने वाले और नियामक अभिकरणों के रूप में काम करते हैं। कारखानों के दैनन्दिन और यहां तक कि वर्षानुवर्षी संचालन का काम भी कारखानों के प्रबन्धकों और कामगरों की परिषदों के हाथों में सौंप दिया गया है।

फिर भी विरोधाभास यह है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के प्रबन्ध की सबसे अधिक प्रभावी तकनीकों का विकास पश्चिमी यूरोप की अर्थ-व्यवस्थाओं में हुआ है, जो मूलतः पूंजीवादी है।

फ्रांस में द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् सरकारी स्वामित्व वाले उद्यमों की परिभाषा इस रूप में की गई कि वे "औद्योगिक और वाणिज्यिक ढंग के ऐसे सार्वजनिक संस्थापन हैं, जिनके लिए असैनिक व्यक्तित्व और वित्तीय स्वायत्तता की व्यवस्था की गई है।" अर्थात्, सार्वजनिक उद्यम ऐसे कानूनी निगम बन गये, जिनके सारे शेयरों की एक मात्र मालिक सरकार थी।

कार्य संचालन सम्बन्धी निश्चय उन पेशेवर प्रबन्धकों के हाथ में होते हैं, जो प्रत्येक कारखाने के कार्य के लिए पूरी तरह उत्तरदायी होते हैं और जिन्हें अब वेतन और बोनस उतना ही मिलता है, जितना कि गैर सरकारी व्यवसायों में उनके समान पदों पर स्थित व्यक्तियों को मिलता है। केन्द्रीय सरकार के मन्त्रालयों का काम मुख्यतया व्यापक नीति निर्धारित करने का ही है।

जर्मनी में कई बड़े-बड़े उद्यम भी सरकार के अपने हैं और उनका संचालन भी इसी प्रकार जिम्मेदारी सौंप कर करवाया जाता है। सच तो यह है कि व्यावहारिक जर्मन लोग एक कदम और आगे बढ़ गये हैं: जब भी गैर सरकारी व्यवसायी किसी सरकारी स्वामित्व वाले उद्यम को सार्वजनिक हित में चलाने के लिए योग्य और इच्छुक प्रतीत होते हैं, तो वे उचित कीमत देकर उसे सरकार से खरीद सकते हैं। इस प्रकार

वौक्सवैगन कम्पनी, जो एक बहुत ही सफल सरकारी स्वामित्व वाली कम्पनी थी और जिसका प्रवन्ध भी सरकार के हाथ में था, सन् १९६१ में करदाताओं के लिए काफी लाभ देकर गैर सरकारी व्यवसायियों को बेच दी गई।

संयुक्त राज्य अमरीका में 'टैनैसी वैली अथौरिटी' एक सार्वजनिक निगम है, जिसका काम बहुत कुछ उसी प्रकार होता है, जैसे कि सार्वजनिक क्षेत्र के फ्रांसीसी उद्योगों का होता है; इतना अवश्य है कि यह कहीं बड़े पैमाने पर है। इसके प्रवन्धक बोर्ड में तीन व्यक्ति होते हैं, जिन्हें अमरीका का राष्ट्रपति नियुक्त करता है। यह बोर्ड विविध प्रकार की अनेक गतिविधियों के लिए उत्तरदायी है, जिनमें बाढ़-नियन्त्रण और विद्युत् तथा रासायनिक खादों का उत्पादन भी सम्मिलित है। हाल ही में 'टैनेसी वैली अथौरिटी' को अपनी विद्युत् उत्पादन और प्रेषण की सुविधाओं को बढ़ाने के निमित्त धन प्राप्त करने के लिए बांड जारी करने का अधिकार दिया गया था।

भारत में इस्पात तथा भारी उद्योग मन्त्री श्री सुब्रह्मण्यम ने हाल ही में सरकारी स्वामित्व वाले दुर्गापुर इस्पात और सिन्दरी रासायनिक खाद कारखानों में प्रबन्धक-विषयक स्वायत्तता के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण परीक्षण शुरू करने की घोषणा की है।

जर्मनी, फ्रांस, इटली, स्वीडन और अन्य यूरोपियन देशों की भांति सार्वजनिक क्षेत्र के ये कारखाने भी गैर सरकारी निगमों के कुछ पहलुओं को अपना लेंगे और सरकारी अभिकरणों की कुछ विशेषताओं को त्याग देंगे। अब से इन कारखानों के प्रवन्धक-वर्ग को कर्मचारियों को नियुक्त करने और नौकरी से हटाने का और दैनन्दिन कार्य संचालन सम्बन्धी निर्णय करने का अधिकार रहेगा। उनके वित्तीय मामलों की लेखा परीक्षा नियमित सार्वजनिक लेखा परीक्षकों द्वारा की जायेगी।

इस नये दबंग दृष्टिकोण की घोषणा करते हुए श्री सुब्रह्मण्यम ने कहा, "यह विचार भ्रान्त है कि पड़तालों और सन्तुलनों द्वारा

सार्वजनिक क्षेत्र के प्रबन्ध की इतनी भली भांति सुरक्षा की जा सकती है कि उसमें गलतियां हो ही न सकें। सुचारु प्रबन्ध में सदा ही कुछ अस्थायी गलतियां होंगी। गलतियां तो वे कीमत हैं, जो प्रगति के लिए चुकानी ही पड़ती हैं। महत्वपूर्ण वस्तु कुल मिला कर प्राप्त हुआ अन्तिम परिणाम है।" यह व्यावहारिक कदम संसार के सर्वोत्तम अनुभव पर आधारित है।

३

जैसा कि हम देख चुके हैं, किसी विकासोन्मुख राष्ट्र में सरकार का मुख्य काम है--राष्ट्रीय, आर्थिक और सामाजिक लक्ष्यों को नियत करना, उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए यथार्थ योजनाएं और अग्रताएं तैयार करना, आधारभूत अधोरचना के लिए पूंजी और निदेशन की व्यवस्था करना और उन अन्य अत्यावश्यक उत्पादन की सुविधाओं का विकास करना, जिनके लिए गैरसरकारी पूंजी प्राप्त न हो रही हो।

इसके बाद भी एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के अधिकांश भाग में अर्थ-व्यवस्था का एक वहुत बड़ा क्षेत्र ऐसा बच रहता है, जिसमें सबल गैरसरकारी उद्यम स्पष्टतया सुनिश्चित राष्ट्रीय उद्देश्यों और सामाजिक तथा आर्थिक न्याय के ढांचे के अन्दर रह कर काम कर सकता है। अनुभव से पता चलता है कि लाभ के प्रोत्साहन और सार्वजनिक हित के प्रति आदर के मध्य ठीक सन्तुलन द्वारा गैरसरकारी स्वामित्व और प्रवन्ध वाले छोटे और वड़े, दोनों उद्योग राष्ट्रीय उन्नति और कल्याण में एक ऐसा निर्णायक योग दे सकते हैं, कि वैसा सरकारी प्रयत्नों द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता।

उदाहरण के लिए, गैरसरकारी उद्यम आर्थिक जीवन के कोने-कोने तक प्रवेश कर सकता है। यह उस स्वदेशी पूंजी और उन प्रवन्ध

सम्बन्धी निपुणताओं को छोटी-छोटी जेबों से बाहर निकाल ला सकता है और उनके सहारे पनप सकता है, जिनका कि अन्य किसी प्रकार दोहन न किया जा सकता। प्रतियोगिता को प्रोत्साहन देकर यह पहल शक्ति उत्पन्न करने में, नई उपजों और पद्धतियों के अनुसन्धान और विकास में सहायता दे सकता है, जिससे कि सारी अर्थ-व्यवस्था को बल मिलता है। यह उन युवक लोगों को व्यक्तिगत उन्नति के लिए सुअवसर प्रदान करता है, जिनमें प्रबन्ध-विषयक जिम्मेदारी उठाने के लिए पर्याप्त बुद्धि और ऊर्जा है।

एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के अनेक देशों में अनुभव ने यह भी दिखा दिया है कि गैर सरकारी उद्यम न केवल बड़े नागरिक केन्द्रों में अपितु देहाती कस्बों में भी रोजगार की गुंजाइश को बहुत अधिक बढ़ा सकता है। सूझ-बूझ युक्त व्यावसायिक नेतृत्व तथा तकनीकी प्रशिक्षण और कम व्याज पर प्राप्त हुए पूंजी ऋण उन वस्तुओं और व्यवस्थाओं को तैयार कर सकते हैं, जिन्हें ग्रामीण जनता उत्सुकतापूर्वक ले लेगी।

भारतीय पंजाब में हाल ही में हुआ आर्थिक गतिविधि का उभार इन सम्भावनाओं का निदर्शक है। उपभोक्ताओं की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए सैकड़ों छोटी-छोटी दूकानें, कारखाने और व्यवस्थाएं शुरू की जा रही हैं। उन्हें चलाने के लिए प्रतिवर्ष कई हजार तकनीकी कारीगरों को प्रशिक्षण दिया जा रहा है और उसके साथ ही अन्य कई हजार लोगों को ऐसे कार्यो के लिए नौकरी का अवसर मिल सकेगा, जिनमें किसी विशेष निपुणता की आवश्यकता नहीं होती।

उचित लाभ के प्रोत्साहन और राजनीतिक सुरक्षा की संभावना से पर्याप्त मात्रा में गैरसरकारी विदेशी पूंजी को भी आकर्षित किया जा सकता है, जिसकी अधिकांश विकासोन्मुख देशों में विदेशी मुद्रा के उपार्जन और विदेशी सरकारों से प्राप्त हुए ऋणों के अनुपूरण के लिए बहुत अधिक आवश्यकता है। इसके साथ जटिल उद्योगों में विदेशी प्रबन्ध को भी मिलाया जा सकता है, जिससे तैयार माल की कीमतों

को कम करने और किस्म को सुधारने में सहायता मिलती है; इसके साथ ही बाजार में माल बेचने की उन आधुनिक तकनीकों को भी अपनाया जा सकता है, जिनसे वितरण का व्यय कम हो जायेगा और निर्यात के लिए बाजारों के द्वार खुलने में सहायता मिलेगी।

गैरसरकारी उद्यम की आत्म-नियमन की विशेषताएं एक और ऐसा अतिरिक्त तत्व हैं, जिसका महत्व समझना अनेक विकासोन्मुख देशों ने अभी शुरू ही किया है। राष्ट्रीय योजना के ढांचे के अन्दर रह कर गैरसरकारी स्वामित्व और प्रबन्ध द्वारा चलाये जा रहे वे कारखाने उत्पादन को काफी कुछ स्वतः ही उन दिशाओं में मोड़ लेते हैं, जिन्हें उपभोग करने वाली जनता सबसे अधिक पसन्द करती है।

यदि काफी लोग साइकिलें चाहते हैं, तो साइकिलों का मूल्य चुकाने के लिए उनकी उद्यतता साइकिलों के निर्माता को जोरदार प्रेरणा देती है। इसके विपरीत, यदि जनता किसी खास मॉडल को पसन्द नहीं करती, तो उसके अतिरिक्त उत्पादन पर, कम से कम उस विशिष्ट साइकिल के उत्पादन पर, अपने आप एक रोक सी लग जाती है।

सार तथ्य यह है कि कोई भी सरकार इतनी लचीली नहीं होती कि वह उपभोक्ताओं की उन रुचियों के साथ अपना प्रभावी रूप से समंजन कर सके, जो अलग-अलग वर्षों में बदलती रह सकती हैं। दूसरी ओर आत्म-नियमनशील बाजार प्रणाली पूंजी और निपुणताओं का वितरण उन वस्तुओं और सेवाओं की ओर कर देती है, जिन्हें जनता अपनी पसन्द की शैली और किस्म में प्राप्त करना चाहती है। ऊपर से देखने में यह 'परीक्षण और भूल सुधार' की एक अपव्ययपूर्ण प्रक्रिया जान पड़ती है कि छोटे छोटे उद्यमी लोग जनता की आवश्यकताओं को टटोलने का यत्न करते रहें, परन्तु वस्तुतः यह परीक्षण और उन्नति की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है।

यद्यपि 'बाजार द्वारा नियन्त्रण' की इस प्रणाली का सम्बन्ध साधारणतया पश्चिम के प्रजातन्त्रीय राष्ट्रों से माना जाता है, परन्तु यहां यह

बता देना मनोरंजक होगा कि जैसा अन्य आर्थिक परिस्थितियों में हुआ है, साम्यवादी राष्ट्र इस क्षेत्र में भी इससे मिलते-जुलते उपायों को अपनाने के लिए विवश हो रहे हैं ।

ज्यों-ज्यों सोवियत रूस अधिकाधिक एक उपभोक्ता-अभिमुख अर्थ-व्यवस्था की ओर बढ़ रहा है, त्यों-त्यों उसकी सरकार के सामने एक दुविधा उपस्थित होती जा रही है । कोई एकतन्त्रीय अर्थ-व्यवस्था, जिसमें ऊपर की ओर से मनमाना नियन्त्रण किया जाता है, उपभोक्ताओं की रुचि के वे विविध और आकर्षक रंग, शैलियां, मॉडेल, नमूने और कीमतें कैसे प्रस्तुत कर सकती है, जो जनता को और अधिक परिश्रम करने की प्रेरणा देने के लिए आवश्यक प्रोत्साहन है ? दूसरे शब्दों में सोवियत सरकार पश्चिम की अपेक्षाकृत स्वतन्त्र बाज़ार प्रणाली के स्थान पर कौन सी प्रणाली चालू कर सकती है ?

मैं समझता हूँ कि परीक्षण से यह पता चल जायेगा कि इस स्वतन्त्र बाजार प्रणाली का प्रभावीस्थानापन्न अन्य कुछ नहीं है । यदि यह ठीक हो, तो साम्यवादी राष्ट्रों को, जैसा कि उन्होंने कामगरों और प्रबन्धक-वर्ग को प्रोत्साहन देने के मामले में किया है, फिर विवश होकर अपने कट्टर सिद्धान्तों को छोड़ देना पड़ेगा और कम से कम उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन के लिए अन्तिम पथ प्रदर्शक के रूप में उपभोक्ता की स्वतन्त्र इच्छाओं के आधार पर बाजार में माल भेजने की पद्धति को अपनाना पड़ेगा । हालांकि हो सकता है कि इससे स्तालिन अपनी कब्र में परेशान होकर करवटें बदलने लगे, परन्तु यदि ऐसा हुआ, तो यह पहली ही बार नहीं हो रहा होगा ।

४

किसी विकासोन्मुख राष्ट्र में गैर सरकारी उद्यम जो पार्ट अदा कर सकता है, उसका वर्णन करते हुए मैंने इस बात पर जोर दिया

था कि उसे सुनिर्धारित राष्ट्रीय उद्देश्यों और आर्थिक तथा सामाजिक न्याय के ढांचे के अन्दर रहते हुए कार्य करना चाहिए। परन्तु इस प्रकार का ढांचा उन नियन्त्रणों का एक जाल सा तैयार किये बिना कैसे बनाया जा सकता है, जो उसी निष्क्रियता को बढ़ाते हैं, जिससे कि हम बचना चाहते हैं ?

बाज़ार का यन्त्रजात अपने आप में इस बात की बिल्कुल गारन्टी नहीं है कि गैरसरकारी उद्यम सदा अपने सर्वोत्तम हित का ही काम करेगा; फिर सार्वजनिक हित का तो कहना ही क्या ? कीमत नियत करने वाले एकाधिकार जनता का शोषण कर सकते हैं; बेईमानी के कामों के फलस्वरूप चोर-बाज़ारी और कर से बचने के प्रयत्न शुरू हो सकते हैं, मज़दूरों का शोषण किया जा सकता है।

इसलिए किसी विकासोन्मुख राष्ट्र का कार्य उसकी ज्यादतियों के डर से गैरसरकारी उद्यम के सृजनात्मक पहलुओं को त्याग देना नहीं, अपितु उत्तरदायित्वपूर्ण पहल शक्ति को निरुत्साहित किये बिना इन ज़्यादतियों को रोकने का उपाय खोजना होना चाहिए।

इसका अर्थ यह है कि यथेष्ट लाभ के प्रोत्साहनों के साथ-साथ सरकार को यह सुनिश्चित करने के लिए व्यवहार-योग्य नियम बनाने चाहिएं कि गैर सरकारी ऊर्जाओं का उपयोग मुख्यतया सृजनात्मक उद्यम के लिए किया जाये, न कि सट्टेबाजी के लिए; स्वल्प साधनों का उपयोग निष्फल या अपव्ययपूर्ण उद्देश्यों के लिए न किया जाये; और व्यापक सार्वजनिक हित को सर्वाधिक अग्रता दी जानी चाहिए।

संयुक्त राज्य अमरीका में हमने प्रजातन्त्रीय वाद-विवाद, कानून निर्माण और समंजन की प्रक्रिया द्वारा क्रमशः नियामक कानूनों और अभिकरणों की एक ऐसी व्यवस्था स्थापित कर ली है, जो हमारे गैर सरकारी क्षेत्र के लगभग प्रत्येक खंड की गतिविधियों पर नियन्त्रण रखती है। काफी बड़ी सीमा तक हम अपने उद्यमी लोगों की पहल शक्ति

का गला घोटे बिना उनके नियमन के इस नाजुक काम को कर पाने में सफल हुए हैं।

इसके परिणामस्वरूप अब अधिकांश अमरीकी व्यवसायियों ने यह समझ लिया है कि जिस बात में जनता की भलाई है, अन्ततोगत्वा उसी में उनकी अपनी भलाई भी है। यह काम संघ सरकारों द्वारा लागू किये जाने वाले उन आर्थिक और सामाजिक आधारभूत नियमों की स्थापना द्वारा हुआ है, जिन्होंने अमरीकी पूंजीवाद को लोकोपयोगी बनाने का काम किया है और उसे राष्ट्रीय उन्नति और व्यक्ति की अपनी उन्नति के अवसरों को बढ़ाने के लिए उसे सामाजिक दृष्टि से एक उत्तरदायी शक्ति के रूप में बदलने में सहायता दी है।

उदाहरण के लिए, शेरमैन ऐन्टिट्रस्ट अधिनियम का, जो सन् १८९०. में पास किया गया था और सन् १९१४ के क्लैटन ऐन्टिट्रस्ट अधिनियम का लक्ष्य यह था कि किस्म और कीमत के हिसाब से निर्माताओं में प्रतियोगिता अवश्य हो, जिससे वस्तुओं के प्रवाह को नियमित करने के लिए जनता के उपकरण के रूप में बाज़ार सुचारु रूप से कार्य कर सके। ये कानून उन अनेक कानूनों में से केवल दो हैं, जो कीमत निर्धारित करने वाले एकाधिकारों और बड़े-बड़े संगठनों को व्यापार में रुकावट डालने से रोकते हैं।

अन्य सरकारी नियामक अभिकरण हमारे बड़े-बड़े आधारभूत उद्योगों—जैसे परिवहन, संचार-साधन और विद्युत्—में से अनेक के वास्तविक क्रियाकलाप पर नियन्त्रण रखते हैं। १९०६ का 'विशुद्ध खाद्य अधिनियम' और १९३८ का 'खाद्य औषध तथा प्रसाधन अधिनियम' निर्मित माल पर गलत लेबल लगाने और साथ ही धोखा देने वाले डिब्बे आदि बनाने, मिलावट करने, या अस्वास्थ्यकर वस्तुओं की बिक्री का निषेध करते है। खाद्य सामग्री के प्रत्येक डिब्बे के ऊपर, गोलियों की प्रत्येक डिबिया पर और खाने के काम आने वाले तेल की प्रत्येक कनस्तरी पर लगे लेबल में स्पष्टतया उन सब वस्तुओं का उल्लेख रहना

चाहिए, जिनसे कि वह सामग्री बनाई गई है। इन कानूनों को कठोरतापूर्वक लागू किया जाता है।

व्यवसाय के काम-काज और व्यवहार पर इस प्रकार के नियन्त्रणों के अलावा वहां न्यूनतम मजदूरी-विषयक कानून हैं; ऐसे कानून हैं, जिनके द्वारा मजदूरों की यूनियनों के और उन यूनियनों के अन्दर व्यक्तिगत कामगरों के अधिकारों की गारंटी की गई है; सामाजिक सुरक्षा कर कानून हैं; उन कामगरों के लिए, जिन्हें काम करते हुए कोई चोट आ जाये, मज़दूर-मुआवज़ा कानून हैं, और इनके अलावा और भी बहुत से कानून हैं, जिनके कारण संयुक्त राज्य अमरीका में गैर सरकारी उद्यम सार्वजनिक हित के प्रति उत्तरदायी रहता है। केवल कुछ थोड़े से मामलों को छोड़ कर व्यवसायी लोगों ने इन नियमों का पालन अपने यहां स्वेच्छा से शुरू कर दिया है, और यहां तक कि कुछ जगह तो उन्होंने स्वेच्छा से उन्हें और भी बढ़ा दिया है।

हमारी कर प्रणाली भी न केवल सरकारी सेवाओं के लिए आवश्यक राजस्व की व्यवस्था करने के लिए, अपितु व्यवसाय के विस्तार को सुनिश्चित करने में सहायता देने के लिए एक बड़े पैमाने पर बाजार तैयार करने में भी एक बड़ा साधन रही है। संयुक्त राज्य अमरीका का प्रत्येक निगम अपने सकल लाभ का लगभग आधा भाग संघ सरकार को दे देता है, जो उस धन को विद्यालयों, सड़कों, चिकित्सालयों, प्रतिरक्षा और सार्वजनिक सेवाओं पर खर्च करती है; और इन कार्यों से लाखों अतिरिक्त नौकरियां निकल आती हैं, जिन पर लोगों को अच्छे वेतन मिलते हैं।

परन्तु मेरी सम्मति यह है, कि हमारी कर प्रणाली सट्टे या व्यापार द्वारा प्राप्त किये गये लाभों में, जिनमें कि किसी अतिरिक्त मूल्य का सृजन नहीं होता और कारखानों में निर्मित वस्तुओं या खेती की उपज या सेवाओं के सृजन द्वारा प्राप्त किये गये लाभों में यथेष्ट रूप से अन्तर कर पाने में असमर्थ रही है।

सच तो यह है कि मुझे विकसित या अल्प विकसित ऐसे किसी भी राष्ट्र का पता नहीं है, जो गैरसरकारी पूंजी को सामाजिक दृष्टि से अधिकतम उत्पादनशील उपयोगों की ओर आकर्षित करने के लिए इस बढ़िया सुअवसर का ठीक ढंग से लाभ उठा सका हो। इसके लिए आवश्यकता एक ऐसी कर प्रणाली की है, जिसमें वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए अतिरिक्त लाभ की प्रेरणा रहे और उसमें, जिन्हें हम 'निष्प्रेरक' कर उपबन्ध कह सकते हैं, रहें, जो भूमि या पण्य द्रव्यों के विशुद्ध सट्टे द्वारा प्राप्त किये गये लाभों को बहुत ही कम कर दें। यह एक ऐसा क्षेत्र है, जिसमें एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के विकासोन्मुख राष्ट्रों को पहल शक्ति और सूझ-बूझ से काम करने का एक विशेष अवसर प्राप्त है।

सामाजिक न्याय के ढांचे के अन्दर रहते हुए औद्योगिक विस्तार की इस प्रक्रिया में एक और निर्णायक तत्व संगठित श्रम का है। किसी भी स्वतन्त्र और फैलते हुए समाज में ऐसी उत्तरदायित्वपूर्ण मजदूर यूनियनें एक अपरिहार्य तत्व है, जिनके नेता मजदूरों के लिए कार्य की अनुकूल दशाओं और लाभ का एक उचित भाग दिये जाने का आग्रह करते हुए भी प्रबन्धक वर्ग के उचित लाभ लेने और प्रबन्ध करने के अधिकार को स्वीकार करते हों।

द्वितीय विश्व युद्ध के दिनों में संयुक्त राज्य अमरीका में 'कीमत, राशन और किराया नियन्त्रण के प्रशासक' के तौर पर प्राप्त अपने अनुभव से मैं एक चेतावनी की बात और जोड़ देना चाहता हूं।

अधिकांश विकासोन्मुख देशों में सरकार की सीधी कार्रवाई द्वारा कीमतों और उत्पादन के प्रवाह को नियन्त्रित करने का एक प्रलोभन सा रहता है। यद्यपि कुछ परिस्थितियों में इस प्रकार के नियन्त्रण आवश्यक होते हैं, किन्तु उनका प्रशासन एक नाजुक और जटिल कार्य है, जिसके लिए बहुत सावधानी की आवश्यकता होती है।

उदाहरण के लिए, यदि ऐसी अत्यावश्यक वस्तुओं की, जो कम

मात्रा में उपलब्ध हैं, अधिकतम कीमतें इतनी कम नियत कर दी जायें कि वे व्यावहारिक ही न हों, तो उसका सदा ही यह परिणाम होगा कि उन वस्तुओं की दुर्लभता और बढ़ जायेगी, क्योंकि पूंजी और निपुणताओं का प्रयोग उन अधिक लाभदायक और बहुधा कम आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के लिए किया जाने लगेगा, जिनकी कीमतों पर नियन्त्रण नहीं किया गया है। स्वल्पता को कम करने का एकमात्र प्रभावी उपाय उत्पादन को बढ़ाने का है, और कीमत नियत करने की प्रणाली द्वारा इस प्रकार के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। जिन कीमत-नियन्त्रणों में इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता, उनके कारण उत्पादन मन्द पड़ जाता है और वह भी बहुधा अर्थ व्यवस्था के बहुत ही महत्वपूर्ण क्षेत्रों में; और उससे चोर-बाजारी शुरू हो जाती है, जो बहुत महंगी पड़ती है; और उससे आर्थिक गतिशीलता और लक्ष्य की भावना क्षीण पड़ जाती है, जो कि राष्ट्रीय उन्नति के लिए प्रेरक शक्ति है।

५

इस विचार-विमर्श से कुछ सिद्धान्त सामने आ जाते हैं। नैतिक दृष्टि से गैरसरकारी उद्यम सार्वजनिक उद्यम की अपेक्षा न तो अधिक स्पृहणीय है, न कम। एक ओर तो प्रोत्साहन द्वारा और दूसरी ओर उत्तरदायित्वपूर्ण नियमन द्वारा एक स्वस्थ राष्ट्रीय योजना के अन्तर्गत कार्यशील गैर सरकारी उद्यम एक ऐसे आन्दोलन का बड़ा भाग बन सकता है, जो सामाजिक न्याय के ढांचे के अन्दर रहते हुए राष्ट्रीय उन्नति के लिए अत्यावश्यक है।

इसका अर्थ यह है कि विकासोन्मुख राष्ट्रों की अत्यधिक बोझ से दबी हुई सरकारों को उस प्रमुख काम के लिए स्वतंत्र छोड़ा जा सकता है, जिसे केवल वे ही कर सकती हैं; वह काम है—अपने लिए सबसे उपयुक्त राष्ट्रीय अग्रताओं और योजनाओं को तैयार करने का काम,

और शिक्षा, बड़े पैमाने पर परिवहन तथा उन मूल उद्योगों की सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक अधोरचना के सृजन का काम, जिनके लिए गैरसरकारी वित्त और प्रवन्ध उपलब्ध नहीं हो सकते और जिनके लिए सरकारी राज सहायता देना अव्यावहारिक है।

इस प्रकार के सन्तुलन से इन नई सरकारों को यह भी सुविधा रहती है कि वे देश की अर्थ-व्यवस्था के अधिकांश भाग के दैनन्दिन संचालन की अपनी राजनीतिक जिम्मेदारियों को कम कर सकती है। इससे उन्हें काफी बड़ी सीमा तक उन प्रतिपक्षी दलों द्वारा खड़ी की जाने वाली परेशानियों से मुक्ति मिल जाती है, जो सदा राजनीतिक वाद-विषयों की खोज में रहते है।

इस सन्तुलन को किस मात्रा तक रखा जाये और किन बातों पर ज़ोर दिया जाये, इस सम्बन्ध में अलग-अलग देशों में अलग-अलग ढंग से प्रश्न उठेंगे। उनका हल केवल परीक्षण और भूल-सुधार द्वारा और विवेकयुक्त सार्वजनिक विचार-विमर्श द्वारा ढूंढा जा सकता है।

अधिकांश विकासोन्मुख देशों में सार्वजनिक और गैर सरकारी उद्यम के बीच उन अनुपातों के विषय में, जो आधुनिक समाज कल्याण की अर्थव्यवस्था के उपयुक्त हों, गहरे मतभेद है। उदाहरण के लिए, इस वार भारत लौटने पर मैंने यह देखा है कि औद्योगिक विकास की अग्रताएं और उसके लिए वित्त की व्यवस्था विवाद का एक विशेष विषय बनी हुई हैं। यद्यपि यह वाद-विवाद वहुधा गरम हो उठता है, फिर भी भारत निरन्तर अपने आपको उन कुछ निषेधात्मक धारणाओं से मुक्त करता जा रहा है, जो उपनिवेशवाद के अधीन सुदीर्घ और निराशामय अनुभव से उसमें घर कर गई थीं।

यह बिल्कुल तर्कसंगत ही था कि गांधीवादी क्रांति में उद्योगीकरण का उपनिवेशवाद के साथ एक घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ लिया जाता और उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष का नेतृत्व करते हुए गांधी जी उद्योगीकरण का विरोध करते। उन्होंने अधिकांश वड़े पैमाने के उद्योगों को

जहां 'अनिवार्य बुराई' माना था, वहां उनका यह विचार था कि उन बड़े उद्योगों का स्वामित्व राज्य के हाथ में होना चाहिए और उन्हें राज्य द्वारा ही चलाया जाना चाहिए, जिससे वे समाज की नैतिक रचना को कम से कम विक्षुब्ध करें।

परन्तु पिछले दस वर्षों में हुई घटनाओं ने उपनिवेशवाद और पूंजीवाद के पुराने साहचर्य को काफी कुछ अयथार्थ बना दिया है। अफ्रीका और एशिया में उपनिवेशवाद तो स्वाधीनता के प्रबल आन्दोलन में घुट कर मर गया है और ऐसी नई प्रशासनिक और कानूनी तकनीकें शुरू की जा रही हैं, जो एक बड़ी सीमा तक उन बुराइयों को सुधार देती हैं, जिनकी ओर गांधीजी ने संकेत किया था। इस प्रकार नूतन भारत गांधी जी से उत्तराधिकार में प्राप्त हुए नैतिक मूल्यों का उल्लंघन किये बिना ज़ोर-शोर से अपने उद्योगों का विकास शुरू कर सकता है।

मेरा विश्वास है कि अपनी परम्परागत व्यावहारिकता के द्वारा भारत एक ओर आधारभूत अधोरचना के लिए सरकारी योजना निर्माण तथा सरकारी विनियोग के और दूसरी ओर तेज़ी से बढ़ते हुए सामाजिक दृष्टि से उत्तरदायी गैर सरकारी क्षेत्र के मध्य एक व्यवहारयोग्य सन्तुलन स्थापित कर सकेगा।

इस सन्तुलन को स्थापित कर सकने के लिए भारत को कई सुविधाएं प्राप्त हैं—निःस्वार्थ नेतागण, एक कार्यक्षम प्रशासन सेवा, तेज़ी से बढ़ता हुआ अनुभव और निपुणताएं। इसके अलावा भारत में स्वदेशी बचत की एक काफी बड़ी ऐसी राशि विद्यमान है, जो इस समय निष्क्रिय पड़ी है; इस प्रकार की राशि अन्य अधिकांश विकासोन्मुख राष्ट्रों में नहीं है, ये बचतें अनेक गांवों तक में विद्यमान हैं। एक बार मैंने एक पंजाबी वृद्धा को इस विषय में चिन्ता प्रकट करते देखा था कि नई पीढ़ी का झुकाव अपनी बचतों को परम्परागत भूमि और स्वर्ण में न लगा कर 'लोहे' (जिसका अभिप्राय मशीनों से था) में लगाने की ओर है। हमें आशा करनी चाहिए कि इस मामले में तरुण पीढ़ी

द्वारा शुरू की गई यह पहल अधिकाधिक ज़ोर पकड़ती जायेगी।

जो धन इस समय भूमि के सट्टे में लगता है, वह भी बचत का एक बड़ा संचय है और आर्थिक विकास के लिए उसका दोहन लाभ के प्रोत्साहन और एक ऐसे चुने हुए करारोपण के मिश्रण द्वारा किया जा सकता है, जिसमें सृजनशील उद्यम और निष्फल तथा सृजनहीन व्यापार में, जिसका कि मैं पहले उल्लेख कर चुका हूं, अन्तर किया जाये।

इस समय मानवीय निपुणताओं और ऊर्जाओं का एक विशाल भंडार लाभ के उन प्रोत्साहनों के अभाव में व्यर्थ जा रहा है, जो नये उद्यम शुरू करने और उपभोग्य वस्तुओं की व्यवस्था करने के लिए आवश्यक है। मेरे मन में विशेष रूप से ऐसे छोटे-छोटे कारखाने और सेवा संस्थापन खड़े करने की बात है, जिनमें आधा दर्जन से लेकर कुछ सौ तक कर्मचारी काम करते हों; और ये उन वस्तुओं और नौकरियों की व्यवस्था करने में एक बड़ा पार्ट अदा कर सकते है, जिनकी कि इस समय भारत को बहुत तीव्र आवश्यकता है। थोड़ा सा और प्रोत्साहन मिल जाने से ये ऊर्जाएं भारत के राष्ट्रीय विकास के लिए गतिशील शक्ति प्रदान कर सकती है।

ब्रिटेन और स्वीडन जैसे अन्य राष्ट्रो ने, जहा कि प्रजातन्त्रीय समाजवाद की एक सबल परम्परा विद्यमान है, अब से बहुत पहले ही सार्वजनिक और गैर-सरकारी क्षेत्रों के मध्य एक व्यवहारयोग्य सन्तुलन स्थापित कर लिया है। उन्होंने गैर सरकारी उद्यम के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक चिन्ता को त्याग कर उसे प्रोत्साहन देना, राष्ट्रीय उद्देश्यों के अनुकूल ढालते हुए उसे पनपने की गुंजाइश देना सीख लिया है।

मेरा विश्वास है कि ऐसा करके उन्होंने एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के उन विकासोन्मुख राष्ट्रों को मार्ग दिखा दिया है, जो भौतिक उन्नति के लिए अधीर होते हुए भी इस बात के लिए आग्रहशील हैं कि किसी भी स्वस्थ समाज का उचित लक्ष्य व्यक्ति को गौरव और उन्नति के लिए अवसर प्रदान करना है।

जहां 'अनिवार्य बुराई' माना था, वहां उनका यह विचार था कि उन बड़े उद्योगों का स्वामित्व राज्य के हाथ में होना चाहिए और उन्हें राज्य द्वारा ही चलाया जाना चाहिए, जिससे वे समाज की नैतिक रचना को कम से कम विक्षुब्ध करें।

परन्तु पिछले दस वर्षों में हुई घटनाओं ने उपनिवेशवाद और पूंजीवाद के पुराने साहचर्य को काफी कुछ अयथार्थ बना दिया है। अफ्रीका और एशिया में उपनिवेशवाद तो स्वाधीनता के प्रबल आन्दोलन में घुट कर मर गया है और ऐसी नई प्रशासनिक और कानूनी तकनीकें शुरू की जा रही हैं, जो एक बड़ी सीमा तक उन बुराइयों को सुधार देती हैं, जिनकी ओर गांधीजी ने संकेत किया था। इस प्रकार नूतन भारत गांधी जी से उत्तराधिकार में प्राप्त हुए नैतिक मूल्यों का उल्लंघन किये बिना ज़ोर-शोर से अपने उद्योगों का विकास शुरू कर सकता है।

मेरा विश्वास है कि अपनी परम्परागत व्यावहारिकता के द्वारा भारत एक ओर आधारभूत अधोरचना के लिए सरकारी योजना निर्माण तथा सरकारी विनियोग के और दूसरी ओर तेज़ी से बढ़ते हुए सामाजिक दृष्टि से उत्तरदायी गैर सरकारी क्षेत्र के मध्य एक व्यवहारयोग्य सन्तुलन स्थापित कर सकेगा।

इस सन्तुलन को स्थापित कर सकने के लिए भारत को कई सुविधाएं प्राप्त हैं—निःस्वार्थ नेतागण, एक कार्यक्षम प्रशासन सेवा, तेज़ी से बढ़ता हुआ अनुभव और निपुणताएं। इसके अलावा भारत में स्वदेशी बचत की एक काफी बड़ी ऐसी राशि विद्यमान है, जो इस समय निष्क्रिय पड़ी है; इस प्रकार की राशि अन्य अधिकांश विकासोन्मुख राष्ट्रों में नहीं है, ये बचतें अनेक गांवों तक में विद्यमान हैं। एक बार मैंने एक पंजाबी वृद्धा को इस विषय में चिन्ता प्रकट करते देखा था कि नई पीढ़ी का झुकाव अपनी बचतों को परम्परागत भूमि और स्वर्ण में न लगा कर 'लोहे' (जिसका अभिप्राय मशीनों से था) में लगाने की ओर है। हमें आशा करनी चाहिए कि इस मामले में तरुण पीढ़ी

द्वारा शुरू की गई यह पहल अधिकाधिक ज़ोर पकड़ती जायेगी।

जो धन इस समय भूमि के सट्टे में लगता है, वह भी बचत का एक बड़ा संचय है और आर्थिक विकास के लिए उसका दोहन लाभ के प्रोत्साहन और एक ऐसे चुने हुए करारोपण के मिश्रण द्वारा किया जा सकता है, जिसमें सृजनशील उद्यम और निष्फल तथा सृजनहीन व्यापार में, जिसका कि मैं पहले उल्लेख कर चुका हूं, अन्तर किया जाये।

इस समय मानवीय निपुणताओं और ऊर्जाओं का एक विशाल भंडार लाभ के उन प्रोत्साहनों के अभाव में व्यर्थ जा रहा है, जो नये उद्यम शुरू करने और उपभोग्य वस्तुओं की व्यवस्था करने के लिए आवश्यक हैं। मेरे मन में विशेष रूप से ऐसे छोटे-छोटे कारखाने और सेवा संस्थापन खड़े करने की बात है, जिनमें आधा दर्जन से लेकर कुछ सौ तक कर्मचारी काम करते हों; और ये उन वस्तुओं और नौकरियों की व्यवस्था करने में एक बड़ा पार्ट अदा कर सकते हैं, जिनकी कि इस समय भारत को बहुत तीव्र आवश्यकता है। थोड़ा सा और प्रोत्साहन मिल जाने से ये ऊर्जाएं भारत के राष्ट्रीय विकास के लिए गतिशील शक्ति प्रदान कर सकती हैं।

ब्रिटेन और स्वीडन जैसे अन्य राष्ट्रों ने, जहां कि प्रजातन्त्रीय समाजवाद की एक सबल परम्परा विद्यमान है, अब से बहुत पहले ही सार्वजनिक और गैर-सरकारी क्षेत्रों के मध्य एक व्यवहारयोग्य सन्तुलन स्थापित कर लिया है। उन्होंने गैर सरकारी उद्यम के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक चिन्ता को त्याग कर उसे प्रोत्साहन देना, राष्ट्रीय उद्देश्यों के अनुकूल ढालते हुए उसे पनपने की गुंजाइश देना सीख लिया है।

मेरा विश्वास है कि ऐसा करके उन्होंने एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के उन विकासोन्मुख राष्ट्रों को मार्ग दिखा दिया है, जो भौतिक उन्नति के लिए अधीर होते हुए भी इस बात के लिए आग्रहशील हैं कि किसी भी न्याय्य समाज का उचित लक्ष्य व्यक्ति को गौरव और उन्नति के लिए अवसर प्रदान करना है।

४

चीन और भारत : समस्याएं और सम्भावनाएं

राष्ट्रीय विकास के किसी भी विचार विमर्श में भारत और साम्यवादी चीन की तुलना उनके राजनीतिक महत्व के कारण, उनकी आवश्यकताओं की आश्चर्यजनक समानताओं के कारण, और अपने विकास के लिए उनके द्वारा अपनाये गये मार्गों में अत्यधिक वैषम्य के कारण अनिवार्य ही है।

इन दोनों देशों की जनसंख्या मिला कर सारे संसार की जनसंख्या का दो पंचमांश है और इन दोनों का क्षेत्रफल सारे भूमंडल के कुल बसे हुए भाग का एक पंचमांश है। दोनों पर विदेशी शक्तियों का शासन रहा है, हालांकि जैसा कि एक भारतीय इतिहास के प्राध्यापक ने बताया है, भारत पर केवल एक ही देश का औपनिवेशिक स्वामित्व रहा है, जबकि चीन का लगभग हर किसी ने शोषण किया था। ये दोनों ही हाल में क्रान्तिकारी काल में से गुज़रे हैं, हालांकि भारत का यह क्रान्तिकाल चीन की अपेक्षा कहीं कम उग्र और कम विध्वंसकारी था।

भारत और चीन ने जिन आर्थिक आधारभूमियों पर से अपना विकास का कार्यक्रम शुरू किया, वे भी एक जैसी ही थीं। ये दोनों देश

अपनी आवश्यकताओं और अपनी संभाव्यताओं की तुलना में अल्पविकसित थे और उनकी ८० प्रतिशत जनसंख्या मुख्यतया कृषि पर निर्भर थी। १९४७ में चीन में प्रति व्यक्ति आय लगभग ४५ डालर प्रति वर्ष थी; भारत में यह आय लगभग ५२ डालर थी।

भारत १९४७ में स्वाधीन हुआ और उसने अपनी पहली पंचवर्षीय योजना १९५१ में शुरू की। साम्यवादी चीनी सरकार का चीन की मुख्य भूमि पर अधिकार १९४९ में स्थापित हुआ और उसने अपनी पहली पंचवर्षीय योजना १९५३ मे शुरू की। ये दोनों देश अपनी दो पंचवर्षीय योजनाएं पूरी कर चुके है और अब अपनी तीसरी योजनाओं में लगे है।

यद्यपि ये समानताएं अद्भुत है, फिर भी अपनी एक सी समस्याओं को हल करने के उनके ढंग बहुत भिन्न है। चीन ने अपना कार्यक्रम मार्क्स की एक सैद्धान्तिक व्याख्या के आधार पर बनाया, जब कि भारत का झुकाव व्यावहारिक दृष्टि से प्रजातंत्रात्मक कल्याण राज्य की ओर रहा। भारत ने अपनी पहली पंचवर्षीय योजना में कृषि पर बल दिया, जब कि चीन ने सबसे अधिक अग्रता भारी उद्योगों को दी। चीन ने उत्पादक वस्तुओं के निर्माण पर जोर रखा, जब कि भारत ने उत्पादक वस्तुओं और ऐसी उपभोग्य वस्तुओं तथा सेवाओं में सन्तुलन बनाये रखने का यत्न किया, जिनसे और अधिक उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है।

परन्तु राजनीति और मानवीय सम्बन्धों का क्षेत्र ऐसा है जिसमें इन दोनों में अन्तर सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। जहां भारत ने प्रजातंत्रात्मक विचार-विमर्श तथा साझेदारी को बढ़ाने का यत्न किया, वहां चीनी साम्यवादियों ने सुनियंत्रित अधिनायकवाद की ओर पहले कदम के तौर पर इन नई अपरिपक्व प्रजातंत्रात्मक संस्थाओं को समाप्त कर दिया, जो उस समय चीन में जड़ जमाने ही लगी थी।

जहां भारत ने विकास की प्रक्रिया के एक अंग के रूप में व्यक्ति

को गौरव प्रदान करने का यत्न किया, वहां चीन ने व्यक्ति को राज्य का एक उपकरण मात्र समझा। जहां भारत ने वर्तमान पीढ़ी के लिए सुविधाएं जुटाने की कोशिश की, वहां चीन ने वर्तमान पीढ़ी को उसके पोतों-पड़पोतों को कल्पित सुविधाएं देने के लिए मानवीय सहन-शक्ति की सीमा तक निचोड़ लेना चाहा।

सांस्कृतिक मामलों में भी भिन्नताएं इतनी ही स्पष्ट हैं। जहां भारत ने अपनी प्राचीन संस्कृति को बनाये रखने और उसे समृद्ध करने का यत्न किया और अपने समाज को अपनी परम्पराओं के अनुरूप ही आधुनिक बनाने का यत्न किया, वहां साम्यवादी चीन ने परम्परागत चीनी संस्कृति और संस्थाओं के स्थान पर एक बिल्कुल ही नई और विदेशी समाज व्यवस्था को ला रखने की कोशिश की। जहां भारत ने विकास की प्रक्रिया से उत्पन्न सामाजिक विस्थापन को न्यूनतम रखने का प्रयत्न किया, वहां चीन का प्रयत्न यह रहा कि इस प्रकार का विस्थापन अधिक से अधिक हो।

अन्तिम बात यह, कि चीन शुरू से ही इस बात के लिए कटिबद्ध था कि अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में वह एक आमूल परिवर्तनवादी और युद्धप्रिय तत्व के रूप में अपना प्रभाव डाले, जब कि भारत ने मध्यस्थता, और शान्तिपूर्ण समझौते का अपेक्षाकृत अधिक रचनात्मक मार्ग अपनाया।

इन दो महान राष्ट्रों की ऐसी कोई भी तुलना भ्रामक सिद्ध होगी, जिसमें अग्रताओं और दृष्टिकोण के इन अन्तरों पर ध्यान न दिया गया हो। विकास की प्रक्रिया के सब पहलुओं को उनकी पूरी पृष्ठभूमि में रख कर ही उन पर विचार किया जाना चाहिए। प्रत्येक राष्ट्र के सम्बन्ध में निर्णय हमारे मानकों के साथ-साथ उसके अपने मानकों के आधार पर, और इस आधार पर भी किया जाना चाहिए कि उसकी उपलब्धियों का उस विश्व समाज के साथ कैसा सम्बन्ध है, जिसमें कि वह स्थान पाने के लिए प्रयत्नशील है।

१

जैसा कि हम देख चुके हैं, चीनी कार्यक्रम की आधारभूत विशेषता उनका यह दृढ़ संकल्प थी कि एक दुर्बल, अल्पविकसित, और कृषिप्रधान समाज को यथाशीघ्र एक सबल, औद्योगिक अधिनायकवादी राज्य में बदल डालना है।

प्रचंड क्रान्तिकारी हलचलों की दशाब्दियों में से गुज़र कर, 'लम्बे प्रयाण' की यातनाओं को झेल कर, और अन्त में राष्ट्र पर आधिपत्य के लिए रक्तपातपूर्ण संघर्ष में से गुज़र कर माओ और उसके अनुयायी इस कार्य के लिए बहुत ही वचनबद्ध से हो गये थे। मार्क्सवाद और लेनिनवाद के सिद्धान्त, जो सारतः राजनीतिक हैं, न कि आर्थिक, उनके मार्गदर्शक सिद्धान्त थे।

इस दृष्टि से चीनी नेताओं को अपना कार्य आर्थिक अभियंत्रण के साथ-साथ मानवीय अभियंत्रण की एक विशाल परियोजना के रूप में दिखाई पड़ा। वे केवल आर्थिक उन्नति नहीं चाहते थे; वे तो एक नया और आमूलतः भिन्न समाज रचना चाहते थे।

च्यांग काई शेक की सेनाओं की पराजय के बाद चीनी साम्यवादी नेताओं ने निर्ममतापूर्वक अपना नियंत्रण सुदृढ़ करना और उस समय विद्यमान या भविष्य में संभावित विरोध का उन्मूलन शुरू कर दिया। उन्हें आशा थी कि वे इस काम को निष्ठा के पुराने केन्द्रों को नष्ट करके, और ऐसे नये केन्द्र स्थापित करके पूरा कर सकेंगे, जो अनन्य निष्ठा के साथ राज्य की सेवा करें।

ग्रामीण जमींदारों की सत्ता को समाप्त करने के लिए दसियों हज़ार जमींदारों को प्राणदंड दे दिया गया। पारिवारिक निष्ठाओं को खोखला करने के लिए, प्राचीन धार्मिक विश्वासों को नष्ट करने के लिए, और चीनी सांस्कृतिक परम्परा को बदनाम करने के लिए एक विशाल कार्यक्रम शुरू किया गया।

इसके साथ ही माओ और उसके साथियों ने पुरानी निष्ठाओं के स्थान पर ऐसी नई संस्थाओं को स्थापित करके, जिनमें से प्रत्येक किन्हीं विशिष्ट राजनीतिक या आर्थिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिए गढ़ी गई थी, केन्द्रीय शक्ति को सुदृढ़ करना शुरू किया। साम्यवादी पार्टी, उसके युवक संगठनों, सेना के समानान्तर संगठनों, अनगिनत जन संगठनों और संचार के साधनों पर पूर्ण एकाधिपत्य के कारण पीपिंग को एक विस्तृत और व्यापक नियंत्रण की ऐसी प्रणाली उपलब्ध हो गई, जिसके द्वारा वह चीनी जनता पर काबू रख सकती थी।

इसके बाद सरकार दूसरे सोपान पर आ गई : यह था अपनी नई संगठित की हुई मानवीय ऊर्जाओं को आर्थिक विकास की अत्यावश्यक समस्याओं की ओर केन्द्रित करने का काम।

अधिकृत चीनी दावों के अनुसार प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि में राष्ट्रीय आय का जो अंश पूंजीगत विनियोग के लिए निर्धारित किया गया था, वह विकास की उसी अवस्था में भारत द्वारा पूंजीगत विनोयोग में लगाये गये राष्ट्रीय आय के अंश से तिगुना था। इसके परिणामस्वरूप १९५५ के आसपास वे यह दावा करने लगे थे कि उनकी उन्नति की चाल भारत की अपेक्षा तिगुनी है, और यह बात सुनने में सत्य सी जान पड़ती थी।

यद्यपि चीनी साम्यवादियों के आंकड़े इतने गलत सिद्ध हुए हैं कि वे इसी बात के लिए बदनाम हो गये हैं, फिर भी इस बात में सन्देह नहीं कि विनियोग काफी ऊंचे स्तर पर किया गया था। कम से कम कुछ थोड़े से समय तक अधिनायकतंत्रीय यंत्रजात उपभोग्य वस्तुओं जैसे स्पष्ट प्रतिफल दिये विना व्यक्तियों से कठोरतम श्रम करवा पाने में सफल रहा।

चीनियों के विनियोग का एक अंश उस औद्योगिक उन्नति को, जिसे कि यह मान लिया गया था कि वह बस आ ही रही है, संभालने के लिए तकनीक विशेषज्ञों और विज्ञानवेत्ताओं की शिक्षा के एक जोर-शोर के कार्यक्रम में लगा। विद्यालयों के भवनों और अध्यापकों के प्रशिक्षण का बहुत अधिक विस्तार किया गया। व्यक्तियों को एक

सीमित स्थिति में सुचारु रूप से कार्य करने में समर्थ बनाने के लिए बहुत ही विशेषीकृत पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की गई। चीनी उदार शिक्षा के उन साहसपूर्ण आरम्भों को, जिनका लक्ष्य स्वतंत्र चिन्तन को प्रोत्साहित करना था, बेकार और खतरनाक कह कर छोड़ दिया गया। जब तक साम्यवादी दल के नेताओं को सत्य का ज्ञान है, तब तक अन्य लोगों को विचार करना सिखाने की क्या आवश्यकता है ?

सोवियत रूस और पूर्वी यूरोप के देशों की सहायता से चीनी लोगों ने पहले अपनी विश्व युद्ध से पहले की औद्योगिक क्षमता को पुनः स्थापित करना और उसके बाद उसे तेजी से बढ़ाना शुरू किया। सोवियत रूसी लोगों ने मंचूरिया के जिन संस्थापनों को १९४५ में उखाड़ डाला था, उन्हें फिर लाकर लगाया गया या फिर उन्हें नया बनाया गया; नये कारखानों के समूह बढ़ाये गये।

अधिकृत आंकड़ों के अनुसार, जो कि बहुत संदिग्ध हैं, चीन में सन् १९५१ में प्रथम पंचवर्षीय योजना के शुरू होने से ठीक पहले विद्युत् शक्ति की क्षमता ७.३ खरब किलोवाट घंटे थी; १९६० तक वह बढ़ कर ५५ खरब किलोवाट घंटे हो गई थी। इस्पात, पत्थर के कोयले तथा अन्य मूल उद्योगों के विषय में भी इसी तरह के बढ़े-चढ़े दावे किये गये। फिर भी, इतना सच है कि यांग्त्सी नदी पर पुल अवश्य बनाये गये, जिस पर कि इससे पहले कभी पुल नहीं बना था। चीन के जहाज बनाने के कारखाने में समुद्र पार जाने वाले वाणिज्यिक तथा नौसैनिक जहाज भी अवश्य बनने शुरू हो गये। रेल की नई पटरियां बिछाने के काम में भी काफी वृद्धि हुई।

अत्युक्ति चाहे जितनी भी रही हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि १९५५ तक कठोर मानवीय तथा आर्थिक अभियंत्रण के मिश्रण का फल आर्थिक प्रगति के रूप में प्राप्त होने लगा था। उद्योगीकरण की सबसे कठिन सीढ़ी, मूल उद्योगों और विद्युत् शक्ति का उत्पादन, काफी कुछ पार हो चली प्रतीत होती थी।

इस बीच चीन की मुख्य भूमि की जन संख्या प्रति वर्ष २ प्रतिशत और ३ प्रतिशत के बीच की दर से बढ़ रही थी। हालांकि, अधिकांश मार्क्सवादी विशाल जनसंख्या को, चाहे परिस्थितियां कैसी भी क्यों न हों, आर्थिक सुदृढ़ता का एक साधन समझते हैं, फिर भी जनसंख्या की बेरोक वृद्धि के खतरे इतने स्पष्ट हो उठे थे कि १९५५ की ग्रीष्म ऋतु में लाउडस्पीकरों पर बोलने वाली आवाजों ने संतति-निरोध के एक जल्दी-जल्दी में आविष्कृत किये गये कार्यक्रम की घोषणाएं शुरू कर दीं।

जनसंख्या के नियमन के लिए किया गया यह छोटा सा प्रयत्न १९५८ की वसन्त ऋतु में ठीक इसी प्रकार एकाएक समाप्त कर दिया गया; यह कहा जाने लगा कि अब से सारे प्रयत्नों को 'लम्बी छलांग' कार्यक्रम पर केन्द्रित किया जाना है। इस 'छलांग' में जो विशाल परियोजनाएं बनेंगी, उनके कारण शीघ्र ही जनसंख्या का नियमन करने की आवश्यकता न रहेगी और यहां तक कि मजदूरों की कमी पड़ जायेगी। छह करोड़ व्यक्तियों को कारखाने में भट्ठियों पर इस्पात तैयार करने के काम पर लगाया जाना था। इसके अलावा दस करोड़ व्यक्ति सिंचाई की परियोजनाओं में काम पर लगाये जाने थे।

इतने विशाल पैमाने पर योजनाओं, परियोजनाओं और प्रचार के उफान का राजनितिक प्रभाव सारे एशिया पर काफी अधिक हुआ। अब चीनियों ने भरपूर आत्मविश्वास के साथ सब विकासोन्मुख राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया कि वे चीन आकर उनकी प्रगति को देखें और उनकी पद्धतियों को अपनायें।

१९५५ में जब मैं भारत आया था, तब मैंने देखा कि अनेक लोग साम्यवादी चीन में हुए आश्चर्यजनक विकास से अत्यधिक प्रभावित थे। स्वतंत्र समाज में बहुत पक्का विश्वास रखने वाले लोगों को भी यह सन्देह होने लगा था कि विकासोन्मुख राष्ट्र अपनी प्रजातंत्रात्मक पद्धतियों द्वारा अपने सारभूत आर्थिक लक्ष्यों तक पहुंच भी सकेंगे या नहीं।

परन्तु १९५० के बाद की दशाब्दी के पिछले वर्षों में चीनी योजनाओं की तुलना में उनके उपलब्ध साधन कम पड़ गये और 'लम्बी छलांग' मन्द पड़ने लगी। १९६० में सोवियत रूस से मिलने वाली सहायता कम होने लगी और आर्थिक उतार की गति और भी तेज़ हो गई। जिसे पीपिंग के 'पीपुल्ज डेली' अखबार ने 'विश्वासघात का कार्य' कहा था, उसके एक अंश के रूप में सोवियत रूस ने "३४३ ठेकों और अनुपूरक उपवन्धों को फाड़ कर फेंक दिया" और उसके बाद "समूचे उपकरण समूहों के संभरण को वहुत ही कम कर दिया।"

यद्यपि पीपिंग ने उसके बाद और कोई आंकड़े प्रकाशित नहीं किये, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि १९५७ और १९६० के मध्य जो भी औद्योगिक उन्नति हुई थी, वह बहुत कुछ फिर समाप्त हो गई है। विद्युत् शक्ति का उत्पादन, जो १९६० में ५५ खरब किलोवाट घंटे तक पहुंच गया था, अब घट कर ३०-३५ खरब किलोवाट घंटे रह गया माना जाता है; इस्पात का उत्पादन, जो १९६० में १ करोड़ ८० लाख टन प्रतिवर्ष था, १९६२ में घट कर ८० लाख टन रह गया था। पत्थर के कोयले, सीमेंट, तथा अन्य औद्योगिक उत्पादनों में भी ऐसी ही कमी हुई है।

उपकरणों तथा तकनीकी निपुणताओं के अभाव में अनेक रेललाइनों तथा वांधों पर चल रहा निर्माण कार्य ठप हो गया है। कच्चे माल की कमी और मशीनों के पुर्जे न मिल पाने के कारण वीसियों कारखाने वन्द हो गये हैं या पूरे समय न चल कर अंशकालिक रूप में ही चल रहे हैं। सारे संसार में चीन ही एक ऐसा देश है, जिसमें कुल उत्पादन इससे पहले के वर्षों की अपेक्षा वस्तुतः कम हो गया है।

२

'लम्वी छलांग' के औद्योगिक दौर की असफलता की पुनरावृत्ति कृषि के क्षेत्र में भी हुई, जो सदा से साम्यवादी राष्ट्रों का मर्मस्थल

रहा है। १९५२ और १९६० के मध्य जहां चीन की जनसंख्या प्रतिवर्ष सवा करोड़ व्यक्तियों की दर से बढ़ती रही, वहां खाद्यान्नों का उत्पादन लगभग जहां का तहां रहा। १९५८ में प्रति व्यक्ति जितना अन्न खर्च होता था, उसके हिसाब से १९६२ तक खाद्यान्नों की कमी १।। करोड़ टन की होगई थी। जिस दर से इस समय जनसंख्या बढ़ रही है, उसके हिसाब से यह कमी प्रति वर्ष लगभग ५० लाख टन बढ़ती जायेगी।

इन भयावह आंकड़ों से यह पता चलता है कि चीन में जो वर्ष खेती की दृष्टि से अच्छा रहेगा, उसमें वहां खाद्य सामग्री का संभरण केवल इतना होगा कि जिससे वहां के लोगों का केवल गुजारा हो सके। सामान्य वर्षों में वहां खाद्य सामग्री की चिन्ताजनक कमी होगी। कृषि की दृष्टि से बुरे वर्षों में वहां लोग व्यापक रूप से अल्प पोषण के शिकार होंगे।

इतना ही नहीं, वहां की वर्तमान सरकार जो भी उपाय कर सकती है, उनसे स्थिति के सुधरने की बहुत कम आशा है। यद्यपि इस समय चीन के कुल भूभाग के केवल १४ प्रतिशत भाग पर खेती होती है, फिर भी इस क्षेत्र का और अधिक विस्तार कर पाने की संभावनाएं बहुत ही कम हैं। चीन के किसान अनेक पीढ़ियों से और अधिक भूमि पर खेती करने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं, किन्तु उन्हें इसमें बहुत कम सफलता मिली है। अनुकूलतम परिस्थितियों में भी इस बात की सम्भावना नहीं के बराबर है कि वर्तमान कृषियोग्य भूमि में २० प्रतिशत से अधिक वृद्धि की जा सकेगी; और क्योंकि इस प्रकार जिस नई अतिरिक्त भूमि पर खेती की जायेगी, वह घटिया स्तर की होगी, इसलिए उसके फलस्वरूप उत्पादन में होने वाली वृद्धि इससे (बीस प्रतिशत से) काफी कम होगी।

इस समय जिस भूमि पर खेती की जा रही है, उसी पर अधिक सघन खेती करके चीन में कृषि के उत्पादन में कोई बड़ी वृद्धि कर पाने की आशा नहीं की जा सकती। चीनी किसान संसार के सर्वोत्तम किसानों

में से हैं; एशिया में प्रति एकड़ चावल की उपज उनसे बढ़ कर केवल जापान और ताइवान में ही होती है, जहां व्यक्तिगत प्रोत्साहन अधिक होने के साथ-साथ रासायनिक खादों का प्रयोग भी कहीं अधिक होता है। इस अन्तिम घटक (रासायनिक खाद) का अत्यधिक महत्व होने के कारण इसका कुछ और विशद विश्लेषण कर लेना उचित होगा।

इस समय चीन में प्रति वर्ष लगभग ३० लाख टन रासायनिक खाद तैयार होता है। यह अनुमान किया गया है कि यदि अधिकतम अनुकूल परिस्थितियों में रासायनिक खाद तैयार करने का कोई बहुत ज़ोरदार कार्यक्रम शुरू किया जाये, तो उससे अगले छह से दस तक वर्षों में मोटे तौर पर ६० करोड़ डालर व्यय करके इस प्रकार के खाद का उत्पादन ५० लाख टन और बढ़ाया जा सकता है। यदि इस प्रकार के प्रयास को शुरू करने और उसे जारी रखने के लिए निपुण कर्मचारी, विद्युत शक्ति और भौतिक साधन उपलब्ध भी हो जायें, तो भी इतना विशाल उद्योग अन्य अत्यावश्यक परियोजनाओं की उपेक्षा करके ही खड़ा किया जा सकता है। इतना ही नहीं, यदि यह लक्ष्य बिल्कुल पूरा भी हो जाये, तो भी इससे चीन की भविष्य की कृषि सम्बन्धी आवश्यकताएं पूरी नहीं होने लगेंगी।

एक पौंड रासायनिक खाद के प्रयोग से ३ पौंड अतिरिक्त अन्न उत्पन्न होता है। अतः इस अतिरिक्त ५० लाख टन खाद के प्रयोग से लगभग १॥ करोड़ टन अतिरिक्त अन्न उत्पन्न होगा—जो वर्तमान अपर्याप्त स्तर पर ४॥ करोड़ अतिरिक्त लोगों को खिलाने के लिए काफी होगा। किन्तु यदि यह मान लिया जाये कि चीन में जनसंख्या की वृद्धि वर्तमान दर से ही होती रहेगी, तो १९७० में १० करोड़ खानेवाले व्यक्ति और बढ़ चुके होंगे; और १९७० से पहले ये रासायनिक खाद तैयार करने वाले नये कारखाने किसी प्रकार तैयार नहीं हो सकते।

परन्तु चीन के कृषि खाते के दूसरे पार्श्व में भी, कुछ सीमान्तीय भूमि पर खेती कर सकने के अलावा, कई ऐसे तत्व हैं, जो उसके लिए अनु-

कूल बन सकते हैं। सिंचाई की सुविधा बढ़ा कर कई क्षेत्रों में एक और फसल पैदा की जा सकती है और कुछ अन्य क्षेत्रों में उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है। बीजों में सुधार किया जा सकता है। एक दृढ़ संकल्पयुक्त प्रयत्न द्वारा जन संख्या की वृद्धि को क्रमशः कम किया जा सकता है।

फिर भी यदि परिस्थितियां अनुकूलतम हों, तो भी इस बात की संभावना प्रतीत नहीं होती कि चीन की सरकार अपने देश की सीमा में इस समय विद्यमान भूमि से इतना काफी अन्न उत्पन्न कर सकेगी कि जो वहां के लोगों का पेट भरने के लिए पर्याप्त हो। यदि यह अनुमान सही हो, तो संभव है कि हमारे काल का यही एक सबसे अधिक निर्णायिक राजनीतिक तथ्य सिद्ध हो।

अनेक औद्योगिक क्षेत्रों में उसकी असफलता की भांति कृषि में भी पीपिंग की असफलता का दोष उसके मानवीय अभियंत्रण के उन महत्वाकांक्षायुक्त प्रयत्नों को दिया जाना चाहिए, जो १९५०-६० के पिछले वर्षों में सामने आये थे। चीनी जनता पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने के प्रयास में चीनी साम्यवादियों ने ऐसे-ऐसे प्रतिबन्ध लगाये, जिनके परिणामस्वरूप उन्हें आम जनता का वह समर्थन मिलना बन्द हो गया, जिसे लम्बे गृह युद्ध के दिनों में उन्होंने सफलतापूर्वक प्राप्त कर लिया था।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी क्रान्तिकारी विजय के समय चीनी लोग, जो युद्ध से थक चुके थे और अनेक दशाब्दियों में पहली बार अपनी सारी मुख्यभूमि को एक संगठित रूप में देख रहे थे, इस नई शासन-व्यवस्था को एक मौका देने के लिए उद्यत और उत्सुक थे।

आरम्भिक अवस्थाओं में नई शासन व्यवस्था ने बहुत बड़े पैमाने पर जो भूमि का पुनर्वितरण किया, उससे आम जनता का यह समर्थन और भी दृढ़ हो गया। परन्तु जब धूल नीचे बैठ गई, तब प्रत्येक चीनी किसान के पास औसत एक एकड़ से भी कम भूमि थी और उसे शीघ्र ही पता चल गया कि यह उसके परिवार के भरण-पोषण के लिए यथेष्ट नहीं है।

कुछ प्रेक्षकों का विश्वास है कि 'खेत किसान का' क्रान्तिकारी वायदा अपने आप में एक सुविचारित धोखाधड़ी था; अर्थात् साम्यवादी नेताओं का कभी यह इरादा ही नहीं था कि वे १० करोड़ किसान परिवारों की, अभिमान, बड़प्पन और निश्चिन्तता की स्थिति को, जो कि भूमि के स्वामित्व से अपने आप आ जाती है, स्वीकार कर लें। चाहे सरकार राजनीतिक वास्तविकताओं का ध्यान रखने में असमर्थ रही हो और चाहे उन्होंने इसकी पहले से ही योजना बनाई हुई हो, किन्तु हुआ यह कि माओ और उसके साथियों ने स्तालिन की परम्परा के अनुसार शीघ्र ही उस राजनीतिक वचन को भंग करना शुरू कर दिया, जिसके कारण लाखों चीनी युवक लाल सेना में स्वेच्छा से भर्ती होने को तैयार हो गये थे। जब देश के पूर्णतया एकमार्गीकरण का नया कार्यक्रम शुरू हुआ, तब चीनी ग्रामीणों का साम्यवाद के प्रति अनुराग बहुत तेज़ी से समाप्त होने लगा।

इस कार्यक्रम का पहला सोपान था लाखों पारस्परिक सहायता दलों की स्थापना; इन दलों में अपने निजी पशुओं और फसल बोने तथा काटने के औजारों को साझेदारी के तौर पर एक जगह मिला लिया जाता था। दूसरे सोपान में कृषि उत्पादक सहकारी समितियां बनाई गई, जिनमें भूमि को भी स्थायी रूप से एक जगह मिला दिया गया। यह आश्वासन दिया गया कि इन सहकारी समितियों के हर सदस्य को उस भूमि के अनुपात में वार्षिक लाभांश दिया जायेगा, जितनी कि उसने समिति को शुरू में दी थी।

तीसरा सोपान १९५५ में सामूहिक फार्मों की स्थापना का था, जिसमें भूमि के निजी स्वामित्व का, जो चीनी किसान का चिर परम्परागत स्वप्न रहा, नामोनिशान मिटा गया और भूमि-लाभांश देने बन्द कर दिये गये। अब भुगतान उस उद्यम से हुए लाभ में से इस अनुपात में किया जाने लगा कि उसमें किसान ने कितने घंटे काम किया है। इस कदम का सैद्धान्तिक दृष्टि से औचित्य बताने के लिए मार्क्सवादी-लेनिनवादी इस

नारे को फिर शुरू किया गया कि "हर किसी को उसके काम के अनुसार प्रतिफल मिलना चाहिए।"

१९५८ में पहला कम्यून, जो सामूहिकीकरण का बिल्कुल अन्तिम साधन था, हुनान प्रान्त में शुरू किया गया। इन बलपूर्वक बनाई गई सहकारी समितियों को, जिनमें से प्रत्येक में औसत ५०,००० व्यक्ति थे, 'लम्बी छलांग' का कृषि की दृष्टि से साधन बनना था। इनका उद्देश्य यह था कि लगभग ५५ करोड़ चीनी ग्रामीणों को केन्द्रीय सरकार के कठोर नियंत्रण के अधीन एक सुविशाल मानवीय कार्य शक्ति के रूप में सन्नद्ध कर दिया जाये।

इस नई स्थिति के अनुरूप, पहले नारे की जगह चटपट एक और नारा प्रस्तुत किया गया : "हर एक व्यक्ति से उसकी योग्यता के अनुसार काम लिया जाये; हर एक को उसकी आवश्यकता के अनुसार मज़दूरी दी जाये।" पीपिंग के एक संवाददाता की एक भेंट का, जिसमें इन नये कम्यूनों की प्रशंसा की गई थी, शीर्षक यह था : "ओ कम्यून, मेरे पास जो भी कुछ है, दांत साफ करने के ब्रुश को छोड़ कर वह सब तुम्हारा है।"

मानवीय अभियंत्रण के सम्बन्ध में माओ के परीक्षण में ये कम्यून अन्तिम अनर्थकारी कदम थे। ये कम्यून इस बात का प्रयत्न थे कि केन्द्रीय शासन व्यवस्था को मन और आत्मा से रहित मानवीय ऊर्जा का ऐसा सुविशाल भंडार प्राप्त होता रहे, जिसका उपयोग खाद्य सामग्री के उत्पादन के साथ-साथ निर्माण परियोजनाओं के लिए भी किया जा सके।

रातों-रात छात्र लोग कृषि-पर्यवेक्षक बन गये; किसान बांध-निर्माता बन गये और गृहिणियां लोहा पिघलाने की भट्ठियों पर काम करने लगीं। इसका कुल मिला कर परिणाम यह हुआ कि जन-शक्ति इस बुरी तरह अस्त-व्यस्त हो गई कि मानवीय इतिहास में इससे पहले कभी नहीं हुई थी और उसके फलस्वरूप जनता में व्यापक निराशा छा गई और चीन की अर्थ व्यवस्था लगभग पूरी तरह ढह गई।

४

यद्यपि साम्यवादी चीन की आर्थिक भूलें विनाशकारी रही हैं, किन्तु उनकी राजनीतिक प्रतिक्रिया और भी दूरगामी हो सकती है। क्योंकि सरकार ने लोगों की इच्छाओं की बिल्कुल ही अवहेलना कर दी, क्योंकि वह चीनी संस्कृति के पुराने आधार को ही नष्ट करने में जुट गई, इसलिए लोगों से उसका सम्बन्ध टूट गया।

आज साम्यवादी पार्टी के साहित्य में पार्टी से बाहर के लोगों का उल्लेख 'जन साधारण' कह कर किया जाता है और 'जन साधारण' पार्टी के सदस्यों को 'वे' कहते हैं। 'अच्छा साम्यवादी कैसे बनें' शीर्षक पुस्तिका में पार्टी के सदस्यों को सचेत किया गया है कि श्रमिक वर्ग को भी—सर्वहारा को, जो परम्परागत मार्क्सवाद का मेरुदंड है—संदेह की दृष्टि से देखा जाये।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक पुराना पाठ है, जिसे उन आधुनिक अधिनायकवादियों को बार-बार पढ़ना होगा, जो लोगों को संकीर्ण और स्वार्थपूर्ण प्रयोजनों के लिए काम में लगाना चाहते हैं। जब लोग शासकों के साथ या शासक अपने देश के लोगों के साथ हितों का ऐकात्म्य स्थापित करने में असमर्थ रहते हैं, और जब दोनों में से प्रत्येक वर्ग दूसरे से डरने लगता है, तब वह राजनीतिक स्थिरता, जिस पर आर्थिक प्रगति निर्भर है, खोखली होने लगती है और अन्ततोगत्वा नष्ट हो जाती है।

चीन के कृषि-संकट ने उसके क्षीण होते हुए औद्योगिक विकास की जड़ें और भी कमजोर कर दीं। कृषि की उपज का स्तर नीचा होने के कारण पहले से ही स्वल्प विनियोग-निधियों और विदेशी मुद्रा में से प्रतिवर्ष ४५ से ५० करोड़ डालर तक की धन राशि को आस्ट्रेलिया और कनाडा से अन्न का आयात करने के लिए व्यय करना पड़ा। इसके अतिरिक्त, उद्योगों के लिए कच्चा माल देनेवाली फसलों की जगह भूमि पर अन्न की फसलें बोई जाने लगीं, जिसका परिणाम यह हुआ कि

कृषिज कच्चे माल पर, जैसे कि कपास पर, निर्भर रहने वाले अनेक कारखाने बन्द हो गये, कीमती उपकरण और निपुण कारीगर बेकार हो गये और निर्यात कम हो गये।

एक चीनी नेता ने हाल ही में कहा था कि चीन जैसे विशाल देश में यदि नेता लोग कोई छोटी सी भी गलती कर बैठें, और वह गलती ७० करोड़ लोगों द्वारा प्रगुणित होती जाये, तो वह राष्ट्रीय विपत्ति बन जाती है। हालांकि साम्यवादी चीन की गलतियों को उचित रूप से 'छोटा' नहीं कहा जा सकता, फिर भी यह टिप्पणी 'लम्बी छलांग' का एक उपयुक्त समाधि-लेख बन सकती है।

५

चीन के इस असमंजस की पृष्ठभूमि में अब हमें भारत की समस्याओं और सम्भावनाओं पर विचार कर लेना चाहिए। ऐसे किन्हीं भी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिवेशों की कल्पना कर पाना कठिन है, जो एक दूसरे से इससे भी अधिक आमूलतः भिन्न हों।

किसी भी प्रजातंत्रीय देश में लोगों को इस बात के लिए प्रेरित करना होता है कि वे साथ मिल कर काम करने के लाभों को स्वयं ही समझ लें। इस काम में समय लगता है और यह पूर्णतया बहुत कम ही पूरा हो पाता है।

क्योंकि स्वतंत्र पत्र-पत्रिकाओं द्वारा झूठे नारों की पोल जल्दी ही खोल दी जाती है, इसलिए उनका प्रभाव केवल क्षणिक होता है। परिणामतः किसानों, मजदूरों और प्रबन्धकों को और भी अधिक परिश्रम करने के लिए सुस्पष्ट प्रतिफल प्रस्तुत किये जाने चाहिएं। इसका अर्थ है कि पूंजीगत विनियोग को इतना सीमिति रखा जाना चाहिए कि अतिरिक्त भोजन सामग्री, वस्त्रों तथा उपभोग्य वस्तुओं के लिए गुंजाइश रहे।

इस बात से भी कोई इनकार नहीं कर सकता कि किसी भी राष्ट्र

में प्रजातंत्रीय विकास देखने में कुछ अव्यवस्थित सा लगा करता है। सरकार बहुत कम बार ही हर एक व्यक्ति को संगठित कर पाती है। अधिकांश व्यक्ति मुख्यतया अपने निजी लाभ के लिए काम करते हैं और उनसे समाज का हित केवल परोक्ष रूप से ही होता है। समाचार-पत्र और विरोधी दल सरकार की और उसकी योजनाओं की निरन्तर आलोचना करते रहते हैं और यह आलोचना सदा उत्तरदायित्वपूर्ण भी नहीं होती।

फिर भी, इस दीख पड़ने वाली अव्यवस्था से कुछ लाभ भी होते हैं : मानवीय ऊर्जाएं उन्मुक्त हो जाती हैं, नई सूझों और नई तकनीकों को प्रोत्साहन मिलता है, और यह मालूम रहता है कि किसी भी एक गलती से, या यहां तक कि गलतियों की एक पूरी शृंखला से भी कोई महान अनर्थ होने की संभावना नहीं है।

परिणामतः, पहले एकाएक तीव्र गति से आगे दौड़ और उसके बाद विनाशकारी अवसाद का चक्र, जो साम्यवादी चीन के विकास की विशेषता रही है, प्रजातंत्रात्मक परिवेश में बहुत कम दिखाई पड़ता है। वहां विकास भले ही अव्यवस्थित सा प्रतीत हो, फिर भी वह अपेक्षाकृत अधिक स्थिर गति से आगे बढ़ता जाता है।

जब भारत के हाल के अनुभवों का चीन के अनुभवों से मुकाबला किया जाता है, तो प्रजातंत्रीय विकास की सबलताएं और दुर्बलताएं बहुत ही स्पष्ट हो जाती हैं। भारत की योजनाओं में भी गलतियां हुई हैं। कृषि तथा उद्योग में निर्धारित लक्ष्य पूरे नहीं हो पाये। जन-संख्या की वृद्धि आरम्भिक अनुमानों की अपेक्षा कहीं अधिक हो गई है और इसके फलस्वरूप प्रति व्यक्ति प्रगति उसकी अपेक्षा मन्द रही है, जितनी की पहले आशा की गई थी। परन्तु भारत ने आरम्भ एक ऐसी संतुलित उन्नति की धारणा से किया था, जिसके द्वारा कृषिज वस्तुओं और निर्मित उपभोग्य वस्तुओं को उन्नति की व्यवस्था के एक अभिन्न अंग के रूप में सम्मिलित कर लिया गया था; इसलिए कुछ क्षेत्रों में जो

कमियां रह गईं, उनका शेष अर्थ-व्यवस्था पर कोई बढ़-चढ़ कर दुष्प्रभाव नहीं हुआ। भारत की लचीली योजना अनगिनत विचार-विमर्शों और समझौतों का परिणाम रही है। जहां भारत की प्रगति आंकड़ों की दृष्टि से कम प्रदर्शन योग्य रही है, वहां वह अपेक्षाकृत अधिक अविराम रही है और उसमें कुछ क्षेत्रों में सफलताएं इतनी अधिक हुई हैं कि उनसे अन्य क्षेत्रों में रही कमी न केवल पूरी हो गई है, अपितु उसके बाद भी कुछ बढ़ोतरी ही रही है।

सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में अन्तर विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। भारत ने अपनी परम्परागत सामाजिक व्यवस्था को नया रूप देने का प्रयत्न तो दृढ़ संकल्प के साथ किया है, परन्तु उसका दृष्टिकोण पुराने जीवन मूल्यों के प्रति सम्मानपूर्ण रहा है। जात-पात की प्रथा में सुधार करने और बाल-विवाहों को रोकने के लिए डाला गया दबाव व्यक्ति को नियंत्रित करने के लिए नहीं, अपितु जहां इस प्रकार के रीति रिवाज उसे अपने पूर्ण विकास तक पहुंचने से रोकते थे, वहां उसे उन रीति रिवाजों के बन्धनों से मुक्त करने के लिए था। अतीत को नष्ट करने का और नये सांस्कृतिक मूल्यों को थोपने का कोई प्रयास नहीं किया गया; लक्ष्य यह रहा है कि पुरानी धारणाओं में ही नई जान फूंकी जाये और उन्हें नई दशाओं के अनुकुल ढाल लिया जाये।

यद्यपि 'लम्बे प्रयाण' के चीनी नेता अपने आदर्शवादी उत्साह का कुछ संचार अपने देश की जनता में कर पाने में समर्थ हुए थे, किन्तु उनकी कट्टर सिद्धान्तवादिता ने उन्हें अपने कार्यक्रम में वहां भी व्यावहारिक परिवर्तन नहीं करने दिये, जहां उन्हें करने की अत्यधिक आवश्यकता थी। जहां चीनियों को यह पक्का निश्चय था कि वे भविष्य की व्याख्या कर सकते हैं, वहां भारत की सरकार समझदारी के साथ अज्ञेयवादी रही है। जहां चीनी व्यवस्था परिस्थितियां प्रतिकूल होने पर तड़क गई है, वहां भारतीय व्यवस्था केवल झुकी भर है।

६

दोनों ही देशों का भविष्य क्या होगा, यह बता पाना कठिन है। फिर भी कुछ रुख स्पष्ट हैं।

सात वर्षों में भारत ने भावी उन्नति के लिए एक स्थिर आधार बना लिया है। चाहे मन्द गति से ही सही, किन्तु वह आगे बढ़ रहा है, और वह अपनी प्रथम पंचवर्षीय योजना के पहले वर्ष से ही इस प्रकार बढ़ता जा रहा है।

भारतीय जनता को मिलने वाले प्रतिफल बढ़ ही रहे हैं, घट नहीं रहे। हाल ही में किये गये एक जनमत सर्वेक्षण से यह पता चला था हर चार भारतीयों में से तीन यह अनुभव करते हैं कि उनकी हालत अब से पांच वर्ष पहले की अपेक्षा कुछ अच्छी ही है।

जनसंख्या की वृद्धि की रोकथाम के उपाय विकसित किये जा रहे हैं और उनका प्रयोग शुरू किया जा रहा है।

लोग क्रमशः प्रजातंत्र की तकनाकों को ग्रहण करते जा रहे हैं और ऐसा करने के साथ-साथ उनकी आत्म-गौरव की भावना बढ़ रही है और पक्की हो रही है।

भारत की राजनीतिक और सामाजिक दोनों ही व्यवस्थाएं एक ऐसे बिन्दु तक पहुंच गई है, जहां उनमें किसी आमूलचूल परिवर्तन की या उनके ढह जाने की गुंजाइश प्रतीत नहीं होती।

इसके अलावा, एक स्वतंत्र समाज के ढांचे में रह कर भारत ने जो राजनीतिक और आर्थिक उन्नति की है, उसके कारण उसे संसार के अधिकांश भाग का विश्वास प्राप्त हो गया है और उसकी सरकार तथा जनता को अनेक उन्नत राष्ट्रों से प्रचुर सहायता मिल रही है। विदेशी सरकारों से सहायता और गैर सरकारी विदेशी पूंजी के इस अविराम प्रवाह का, जिससे इस समय चीन वंचित है, भारतीय विकास की गति पर अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता रहेगा।

दूसरी ओर चीन इस समय अपने विकास के निम्न बिन्दु पर है। उसे अपने उग्रपन्थी होने की, विश्व के मामलों में एक प्रमुख पार्ट अदा करने के निष्फल प्रयत्न की, और सैद्धान्तिक विवादों में उलझ जाने की यह कीमत चुकानी पड़ी है, कि वह शेष संसार से बिलकुल अलग जा पड़ा है।

चीन क्या सन्तोषजनक मार्ग खोज सकता है, आज यह कह पाना कठिन है। उसकी वर्तमान सरकार के लिए यह सम्भव नहीं कि वह अपने कदमों को वापस लौटा ले और फिर नये मार्ग पर चलना शुरू करे, क्योंकि विस्थापन बहुत अधिक हो चुका है। इस बात की सम्भावना बिलकुल नहीं के बराबर है कि अपने वर्तमान गलत रास्ते पर चलते हुए वह कोई बड़ी सर्वांगीण प्रगति कर सकेगा।

फिर भी, चीन एक ऐसा देश है, जिसका कि ध्यान रखना ही होगा। ७० करोड़ व्यक्तियों के राष्ट्र से, भले ही वह अकुशल नेताओं और निष्फल विचारधारा के कारण कितना ही दुर्बल क्यों न हो गया हो, यह आशा नहीं की जा सकती कि वह बिल्कुल लुप्त ही हो जायेगा। अन्ततोगत्वा, कोई न कोई हल निकलेगा। देर सबेर में, आकर्षक, समर्थ चीनी लोग अपनी भवितव्यता के लिए कोई मार्ग निकाल लेंगे और उनका राष्ट्र फिर विश्व-समाज का एक उपयोगी सदस्य बन जायेगा।

७

अन्तिम बात, हमारी भारत और चीन की इस तुलना से शायद जो सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकल सकता है, वह यह है कि एकतंत्रीय 'कार्यक्षमता' की बात मिथ्या कल्पना मात्र है। कुछ वर्ष पहले बहुत से लोगों का, यहां तक कि ऐसे लोगों का भी, जो उसकी पद्धतियों से घृणा करते थे, यह विश्वास था कि अधिनायकतंत्र

आर्थिक विकास के लिए सबसे अधिक कार्यक्षम प्रशासनिक साधन प्रस्तुत करता है। १९५५ के आस-पास के वर्षों में ज़िम्मेदार लोग यह कहने लगे थे कि जल्दी या देर से संसार के कम विकसित देशों को एक ओर कठोर एकमार्गीकरण और दूसरी ओर अपनी जनता के लिए दारिद्र्य के घोर भविष्य में से किसी एक को चुन लेना होगा। अब ऐसा लगता है कि जिन राष्ट्रों में प्रजातंत्रीय ढंग से विकास शुरू करने का साहस था, उनकी सफलता की शायद अधिक सम्भावना है।

ब्राज़ील, जापान, मैक्सिको, ताइवान तथा अन्य अनेक विकासोन्मुख देशों का विकास चीन की अपेक्षा अधिक तेज़ी से हुआ है। इसके अलावा १९६२ में सब साम्यवादी देशों में आर्थिक उन्नति का औसत केवल ३.६ प्रतिशत था; पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी अमरीका के हर प्रजातंत्रीय देश में उन्नति की दर इससे अधिक रही है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि एकतंत्रात्मक शासन व्यवस्थाओं में आर्थिक उन्नति हो नहीं सकती; सोवियत संघ घोर प्रयत्न द्वारा संसार की दूसरे नम्बर पर सबसे बड़ी औद्योगिक शक्ति बन गया है। परन्तु इससे इतना संकेत अवश्य मिलता है कि जिन राष्ट्रों ने विकास के लिए प्रजातंत्रीय मार्ग को चुना है, वे विश्वासपूर्वक उस पर आगे बढ़ते रह सकते हैं।

अब वे यह जानते हुए आगे बढ़ सकते हैं कि आर्थिक प्रगति के साथ साथ ही व्यक्ति के गौरव को भी प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः भारत और चीन के वैषम्य से यह पता चलता है कि किसी भी राष्ट्र की सबसे बड़ी सम्पत्ति स्वतंत्र जनता का बल और बहुत्ववादी समाज की विविधता और प्राण शक्ति है।

अभी बहुत समय नहीं हुआ, जब साम्यवादी चीन के नेताओं ने यह घोषणा की थी कि विकासोन्मुख राष्ट्रों को अन्ततोगत्वा रोटी और स्वतंत्रता, इन दो में से एक को चुनना होगा। अपने दस वर्ष के घोर प्रयत्न के बाद वे स्वयं इन दोनों में से एक को भी नहीं पा सके हैं।

इस आशा के लिए ठोस आधार हैं कि शायद प्रजातंत्रीय भारत इन दोनों को ही प्राप्त कर लेगा।

फिर भी ढील देने के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। भारत की समस्याएं विशालता और जटिलता की दृष्टि से भयावह हैं। अपने साहसपूर्ण प्रयत्नों के बाद भी भारत ने सुव्यवस्थित राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक उन्नति के लम्बे मार्ग पर अभी केवल चलना ही शुरू किया है।

आने वाले वर्षों में संसार की आंखें इन दो प्राचीन देशों–भारत और चीन–पर लगी रहेंगी, जिनमें से प्रत्येक अपनी जनता के लिए अपने ही ढंग से एक नया जीवन प्रस्तुत करने का यत्न कर रहा है। यद्यपि इसके परिणाम के सम्बन्ध में कोई भी व्यक्ति पहले से भविष्यवाणी नहीं कर सकता, फिर भी भारत की सफलता या असफलता ऐसे प्रत्येक व्यक्ति की, अपनी वैयक्तिक सफलता या असफलता होगी, जो केवल भौतिक प्रगति में नहीं, अपितु उस प्रगति का सृजन करने वाले व्यक्तियों के गौरव में विश्वास रखता है।